

बाबासाहेब डॉ. बी. आर. अम्बेडकर

जन्म : 14 अप्रैल 1891 परिनिर्वाण : 6 दिसंबर 1956

बाबासाहेब

डॉ. अम्बेडकर

सम्पूर्ण वाङ्मय

खंड 17

डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय

खंड 17
गांधी एवं अछूतों का उद्धार

पहला संस्करण : 2000
दूसरा संस्करण : 2011

ISBN : **978-93-5109-017-5**

आवरण परिकल्पना : विनय कुमार पॉल
पुस्तक के आवरण पर उपयोग किया गया मोनोग्राम बाबासाहेब डॉ. बी. आर. अम्बेडकर के लेटरहेड से साभार

मूल्य : सामान्य (पेपरबैक) : ₹ 25

प्रकाशक :
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय
भारत सरकार, नई दिल्ली – 110 001
फोन : 011–23320571, 23320576, 23320589
फैक्स : 23320582
वेबसाइट : www.ambedkarfoundation.nic.in

मुद्रक : अरिहंत ऑफसेट, जनकपुरी, नई दिल्ली

दलित युवाओं को मेरा यह पैगाम है कि एक तो वे शिक्षा और बुद्धि में किसी से कम न रहें, दूसरे ऐशो–आराम में न पड़कर समाज नेतृत्व करें। तीसरे, समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारी संभालें तथा समाज को जागृत और संगठित कर उसकी सच्ची सेवा करें।

— डा० भीमराव अम्बेडकर

परामर्श सहयोग

श्रीमती मेनका गांधी
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री (स्वतंत्र प्रभार)
भारत सरकार

श्रीमती आशा दास
सचिव
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय
भारत सरकार

श्री एस.के. पांडा
संयुक्त सचिव
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय,
भारत सरकार
सदस्य सचिव, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

श्री कृष्ण लाल
निदेशक
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

संपादक
श्री ओम प्रकाश काश्यप

संकलन (अंग्रेजी)
श्री वसंत मून

अनुवादक
श्री सीताराम खोड़ावाल

पुनरीक्षक
स्व. उमराव सिंह

संपादक सहयोग
डा. वी.एन. सिंह

विक्रय प्रबंधक
श्री जसवंत सिंह

प्रस्तावना

प्रशांत संबंध संस्थान के भारतीय अनुभाग के अध्यक्ष के आमंत्रण पर मैंने पिछले वर्ष अगस्त में सम्मेलन में प्रस्तुति के लिए भारत के अछूतों की समस्याओं पर यह लेख तैयार किया था। सम्मेलन दिसंबर 1942 में कनाडा के क्युबैक में मोंट ट्रम्बलैन्ट में आयोजित किया गया था। यह लेख सम्मेलन की कार्यवाही में प्रकाशित हुआ। जब से अछूतों और इस समस्या पर रूचि रखने वाले अमरीकियों को यह पता चला कि मैंने यह लेख लिखा है, तभी से वे जोर दे रहे हैं कि मैं इसे एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित करूं और जनसाधारण को उपलब्ध कराऊं। इस मांग की अनदेखी करना संभव नहीं था। साथ ही शिष्टाचार के तकाजे को देखते हुए मैंने सम्मेलन द्वारा प्रकाशित किए जाने से पूर्व ऐसा नहीं किया। अब मुझे प्रशांत संबंधी सम्मेलन के सचिव ने सूचित किया है कि कार्यवृत्त प्रकाशित कर दिया गया है और यदि मेरी इच्छा है, तो उन्हें मेरे लेख के प्रकाशन पर आपत्ति नहीं होगी। इससे स्पष्ट हो जाएगा कि मैंने लेख लिखे जाने के करीब 10 महीने बाद इसे क्यों प्रकाशित कराया।

केवल कुछ मौखिक परिवर्तनों को छोड़ कर यह लेख उसी रूप में प्रकाशित कराया गया है, जैसा सम्मेलन को दिया गया था। यह लेख स्वयं अपने को सिद्ध करेगा। मैं इसमें केवल एक बात जोड़ना चाहता हूं कि मानव समाज का विचारवान वर्ग आमतौर से सहमत है कि शांति सम्मेलन के तीन समस्याओं पर विचार संभावित हैं : (1) साम्राज्यवाद, (2) रंग भेद अथवा जाति भेद, (3) समानतावाद–विरोधी और (4) मौत के सामान की अबाध यात्रा, जिसे सामान्यतः अपरामर्श कहा जाता है। इसमें संदेह नहीं कि ये मौत का ढेर है, जिनका मूल एक राष्ट्र की दूसरे राष्ट के प्रति क्रूरता और एक मानव की दूसरे के प्रति अमानवीयता में होता है। यदि संसार को युद्ध की विभीषिका से उबार कर नए विश्व की सृष्टि करनी है, तो निःसंदेह इन समस्याओं को हल करना होगा। मुझे यह डर है कि अछूतों की समस्या को फिर से भुला दिया जाएगा जैसा कि अब तक होता आया है। इसका परिणाम होगा, विनाश। क्योंकि अछूत तो कष्ट भोग रहे हैं, चाहे उन्हें यहूदियों के कष्टों की तरह प्रचारित नहीं किया गया है, तो भी वे वास्तव में उनसे कम नहीं हैं। हिंदुओं द्वारा उनके दमन के जो तरीके अपनाए जाते हैं, वे भी

कम नहीं। ठीक है नाजियों ने यहूदियों के साथ रक्तपात किया, अछूतों के साथ उतना नहीं हुआ। नाजियों का यहूदियों के साथ समानता–विरोधी रवैया सिद्धांततः अछूतों के प्रति बर्ताव से भिन्न नहीं है और सनातनियों द्वारा अछूतों के विरूद्ध जुल्म भी कम नहीं किए गए हैं।

संसार के दलित लोगों की बेड़ियां काट कर, उन्हें मुक्त करने के लिए दुनिया का जो कर्तव्य है, वही अछूतों के प्रति भी है। यह लेख तैयार करने के लिए मैं इसलिए सहमत हो गया कि दुनिया का ध्यान इस समस्या की ओर आकृष्ट करुं, जिसके संदर्भ में गुलामों, नीग्रों और यहूदियों की समस्या कुछ भी नहीं है। मुझे आशा है कि इस लेख का प्रकाशन शांति सम्मेलन को एक संदेश देगा कि यह समस्या बोर्ड आफ कासेस के समक्ष प्रस्तुत की जायेगी जो इन समस्याओं पर गौर करेगा और हिंदुओं को भी संसार को इसका जवाब देना पड़ेगा।

बी.आर.अम्बेडकर

22, पृथ्वीराज रोड,
नई दिल्ली,
1 सितंबर, 1943





Lkkekftd U;k; vkSj vf/kdkfjrk ea=h
Hkkjr ljdkj
MINISTER OF SOCIAL JUSTICE & EMPOWERMENT
GOVERNMENT OF INDIA
rFkk
v/;{k] Mk- vEcsMdj izfr"Bku
CHAIRPERSON, DR. AMBEDKAR FOUNDATION

dqekjh lSytk
KUMARI SELJA

Lkans'k

eq>s ;g tkudj vR;ar çlUurk gks jgh gS fd lkekftd U;k; vkSj vf/kdkfjrk ea=ky; dk Lok;Ùk'kklh laLFkku] Mk- vEcsMdj çfr"Bku }kjk ckck lkgsc Mk- vEcsMdj ds ys[kksa ,oa Hkk"k.kksa ds [kaM la[;k 17 dk iquZ laLdj.k çdkf'kr fd;k tk jgk gSA

Hkkjr jRu Mk- ch- vkj- vEcsMdj Hkkjrh; lkekftd&jktuhfrd vkanksyu ds ,sls iqjks/kk jgs gSa] ftUgksaus thoui;ZUr lekt ds vkf[kjh ik;nku ij lh?k"kjr 0;fDr;ksa dh csgrjh ds fy, dk;Z fd;kA Mk- vEcsMdj cgqeq[kh çfrHkk ds /kuh Fks blhfy, mudk ys[ku esa fo"k; dh nk'kZfud ehekalk çLQqfVr gksrh gSA ckck lkgsc dk fparu ,oa dk;Z lekt dks ckSf)d] vkfFkZd ,oa jktuhfrd le`f) dh vksj ys tkus okyk rks gS gh] lkFk gh eu"; dks tkx:d ekuoh; xfjek dh vk/;kfRedrk ls lqlfTtr Hkh djrk gSA

ckck lkgsc dk laiw.kZ thou neu] 'kks"k.k vkSj vU;k; ds fo#) vuojr Økafr dh 'kkS;Z&xkFkk gSA os ,d ,sls lekt pkgrs Fks ftlesa o.kZ vkSj tkfr dk vk/kkj ugha cfYd lerk] Lora=rk] cU/kqRo o ekuoh; xfjek lokZifj gksa vkSj lekt esa tUe] oa'k vkSj fyax ds vk/kkj ij fdlh çdkj ds HksnHkko dh dksbZ xqatkb'k u gksA lerk] Lora=rk vkSj cU/kqRo ds çfr dfVc) ckck lkgsc dk ys[ku çcq) es/kk dk çekf.kd nLrkost gSA

Hkkjrh; lekt esa 0;kIr fo"kerkvksa dh o.kZ0;oLFkk] ftlds rgr ekuo&ekuo esa Hksn fd;k tkrk Fkk] ls Mk- vEcsMdj dbZ ckj Vdjk,A blh VdjkgV ls Mk- vEcsMdj esa ,sls tTcs iSnk gq, vkSj ftlds dkj.k mUgksaus lerkoknh lekt dh lajpuk dks viuk thou dk fe'ku cuk fy;kA lerkoknh lekt ds fuekZ.k dh çfrc)rk ds dkj.k Mk- vEcsMdj us fofHkUu /keksZa dh lkekftd&/kkfeZd 0;oLFkk dk v/;;u o rqyukRed fparu&euu fd;kA

Mk- vEcsMdj çfr"Bku] ckck lkgsc Mk- vEcsMdj ds vU; [kaMksa dks Hkh 'kh?k çdkf'kr djus esa ç;Ruljr gSA eq>s iwjh vk'kk gS fd ikBdksa dks 'kh?k gh vçdkf'kr vU; [kaM Hkh iqLrdksa ds vkdkj esa çkIr gks tk,axsA

vk'kk gS] ikBdx.k blls [kaM ds ckjs esa viuh vewY; fopkj ,oa lq>ko miyC/k djok,axs] ftlls fd bu vuqfnr [kaMksa dh xq.koÙkk ,oa lkt&lTtk dks vkxkeh [kaMksa esa vkus okys le; esa csgrj cuk;k tk ldsA

¼dqekjh lSytk½

परामर्श सहयोग

कुमारी सैलजा
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री, भारत सरकार
एवं
अध्यक्ष, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

श्री डी. नैपोलियन
सामाजिक न्याय और अधिकारिता राज्य मंत्री

श्री पी. बलराम नाईक
सामाजिक न्याय और अधिकारिता राज्य मंत्र

श्री अनिल गोस्वामी
सचिव
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार

श्री संजीव कुमार
संयुक्त सचिव
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार
एवं सदस्य सचिव, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

श्री विनय कुमार पॉल
निदेशक
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

श्री कुमार अनुपम
विशेष कार्याधिकारी

डॉ. शशि भारद्वाज
सम्पादक

श्री जगदीश प्रसाद 'भारती'
व्यापार प्रबंधक



संख्या सा.न्या.एवं अ.मं./2000

श्रीमती मेनका गांधी
SMT. MANEKA GANDHI

सामाजिक न्याय और
अधिकारिता राज्य मंत्री
(स्वतंत्र प्रभार)
शास्त्री भवन
नई दिल्ली-110001
भारत
MINISTER OF STATE FOR
SOCIAL JUSTICE AND EMPOWERMENT
(INDEPENDENT CHARGE)
SHASTRI BHAWAN
NEW DELHI-110001
INDIA

12 दिसम्बर, 2000

संदेश

जाति प्रथा की कोख से जन्मी अस्पृश्यता के समूल उन्मूलन हेतु भारत रत्न बाबा साहेब डा0 भीमराव अम्बेडकर आजीवन संघर्षरत रहे ।

उन्होंने नैतिकता, प्रायश्चित और हृदय परिवर्तन जैसी मान्यताओं को कानून और संविधान के साथ जोड़ने की बात को तर्कसंगत रूप से कहा है । उनका मानना था कि दोनों व्यवस्थाएं एक-दूसरे की पूरक हैं ।

अस्पृश्यता को जड़ से उखाड़ फेंकने की दिशा में उनकी भूमिका निःसंदेह अभिनन्दनीय है । उन्होंने अपना अभियान पूर्ण निष्ठा, निर्भीकता एवं आत्मविश्वास के साथ चलाया था ।

प्रस्तुत खंड में डा0 अम्बेडकर द्वारा व्यक्त किया गया दृष्टिकोण उन्हें एक सृजनात्मक सुधारवादी के रूप में उजागर करता है ।

आशा है पाठक गण इस खंड का भी पूर्ववत स्वागत करेंगे ।

परियोजना से जुड़े सभी साथियों को मेरी बधाई ।

(श्रीमती मेनका गांधी)

संपादकीय

भारतरत्न बाबासाहेब डा. भीमराव अम्बेडकर के अंग्रेजी में प्रकाशित सम्पूर्ण वाङ्‌यम को हिन्दी के अतिरिक्त भारत की अन्य ग्यारह भाषाओं में अनुदित किया जा रहा है जिसका देश–विदेश में सर्वत्र स्वागत हो रहा है।

इसी श्रृंखला में हिन्दी में प्रकाशित प्रस्तुत खंड 17 अंग्रेजी के खंड 9 का उत्तरार्द्ध है। इसके प्रमुख विषय हैं : अछूतों की कुल जनसंख्या, उनका महत्व, उनकी राजनीतिक मांगें, हिन्दुओं का विरोध, संयुक्त बनाम पृथक मतदान, कार्यपालिका, सरकारी सेवाएं, अलग बस्तियां, जाति और संविधान तथा हिन्दुओं और उनके मित्रों से कुछ प्रश्न। मनीषी रचनाकार की कलम से निकला यह खंड उनकी एक खोजपूर्ण कृति है जिसमें अछूतों की समस्याओं पर समग्र रूप से प्रकाश डाला गया है जो वास्तव में पठनीय है।

आशा है प्रस्तुत खंड भी हमारे प्रबुद्ध पाठकों में लोकप्रिय होगा।

ओम प्रकाश काश्यप

संपादक

डा. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

विषय-सूची

हिन्दू सोसायटी उस बहुमंजिली मीनार की तरह है जिसमें प्रवेश करने के लिए न कोई सीढ़ी है न दरवाजा। जो जिस मंजिल में पैदा हो जाता है उसे उसी मंजिल में मरना होता है।

— डा० भीमराव अम्बेडकर

अध्याय : 1

अछूतों की कुल जनसंख्या

भारत में किसी समय जनगणना एक सरल और सहज प्रक्रिया हुआ करती थी, जिसमें केवल जनसंख्याविदों को ही रूचि रहती थी। बाकी किसी को इसमें दिलचस्पी नहीं होती थी। आज जनगणना पर सभी का अत्यधिक ध्यान जा रहा है। सिर्फ राजनीतिज्ञ को ही नहीं, बल्कि जन सामान्य को भी इस की चिंता रहती है। इसका कारण यही है कि भारत की राजनीति आज संख्या का खेल बन गई है। संख्या ही वह तत्व है, जो एक समुदाय को दूसरे से अधिक राजनैतिक महत्व देती है। ऐसा दुनिया के किसी और देश में नहीं होता। इसी का परिणाम है कि जनगणना में इस प्रकार की गड़बड़ी की जाती है, जिससे कि संख्या के आधार पर राजनीतिक लाभ बटोरा जा सके। जनसंख्या की इसी गड़बड़ी में हिन्दू, मुसलमान और सिख ने अपनी–अपनी भूमिका रसोईघर के मुख्य रसोइये की निभाई है। इसी में अछूत और ईसाई भी रुचि ले रहे हैं, जिनका जनगणना की कारीगरी में कोई हाथ नहीं है, क्योंकि देश के प्रशासन में उनका कोई स्थान नहीं है, जो जनगणना का काम देखता है, बल्कि इसके विपरीत हिंदू, मुसलमान और सिख अछूतों के समूह को जनगणना के आधार पर काट–छांट कर अपने साथ गिन रहे हैं। 1940 की जनगणना में खास तौर पर ऐसा हुआ। पंजाब के कुछ विशेष भागों में सिखों ने अछूतों को योजनाबद्ध तरीके से डराया, धमकाया और सताया। उनका इरादा था कि अछूतों को विवश किया जाए कि वे सिख न होते हुए भी जनगणना में अपने को सिख लिखवाएं। इससे अछूतों की जनसंख्या सिकुड़ गई और सिखों की बढ़ गई। हिंदुओं ने अलग से एक अभियान चलाया कि जनगणना में कोई अपनी जाति न लिखवाए। अछूतों से एक खास अपील की गई। उन्हें बताया गया कि जाति का नाम ही यह प्रकट करता है कि वे अछूत हैं और यदि वे अपनी जाति का उल्लेख न करके केवल यही लिखवाएं कि वे हिंदू हैं, तो उनके साथ अन्य हिंदूओं की तरह बर्ताव किया जाएगा और किसी को यह पता भी नहीं चलेगा कि वे अछूत हैं। अछूत इस झांसे में आ गए और उन्होंने निश्चय किया कि वे जनगणना में अपने को अछूत न लिखवाऐंगे व केवल हिंदू बताऐंगे। नतीजा साफ था। अछूतों की जनसंख्या घट

गई और हिंदुओं की बढ़ गई। जनगणना की इस कारीगरी ने क्या तथा कहां तक गुल खिलाए यह कहना कठिन है। परंतु निस्संदेह इसका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। जनगणना में सर्वत्र कारीगरी की गई है। परंतु इस कारीगरी की गाज सबसे ज्यादा अछूतों पर गिरी है। इन हालात में ब्रिटिश भारत की जनगणना में अछूतों की जो कुल जनसंख्या दिखाई गई है वह स्वीकार्य नहीं है। परंतु यह कहना गलत न होगा कि ब्रिटिश भारत में अछूतों की मौजूदा संख्या लगभग 6 करोड़ होगी।

अध्याय – 2

अछूतों का महत्व

संसार के अधिकांश देशों में ऐसे वर्ग हैं, जो निम्न वर्ग कहे जाते हैं। ये रोम में स्लेव या दास कहलाते थे। स्पार्टन में इनका नाम हेलोटस या क्रीत था। ब्रिटेन में ये विलियन्स या क्षुद्र कहलाते थे, अमरीका में नीग्रो और जर्मनी में ये यहूदी थे। हिंदुओं में यही दशा अछूतों की थी, परंतु इनमें से कोई इतना बदनसीब न था, जितना अभागा अछूत है। दास, क्रीत क्षुद्र सभी लुप्त हो गए हैं। परंतु छुआछूत का भूत आज भी मौजूद है और यह तब तक मौजूद रहेगा जब तक हिंदू धर्म का अस्तित्व है। अछूत यहूदियों से भी गया–बीता है। यहूदियों की दुर्दशा उनकी अपनी करनी के कारण है। अछूतों की दुर्गति के कारण नितांत भिन्न है। यह निर्मम हिंदुओं की साजिश के शिकार हैं, जो उनकी दुर्दशा के लिए बर्बर तत्वों से कम नहीं हैं। यहूदी तिरस्कृत हैं, परंतु उनकी तरक्की के रास्ते बंद नहीं कर दिए गए हैं। अछूत केवल तिरस्कृत ही नहीं हैं, बल्कि उनकी तरक्की के सभी दरवाजे बंद हैं। फिर भी अछूतों की तरफ किसी का ध्यान नहीं गया 6 करोड़ प्राणियों की अनदेखी हो रही है।

भारत में आजादी का जो कोलाहल मचा है, उसमें यदि कोई हेतु है तो वह है अछूतों का हेतु। हिंदुओं और मुसलमानों की लालसा स्वाधीनता की आकांक्षा नहीं है। यह तो सत्ता संघर्ष है, जिसे स्वतंत्रता बताया जा रहा है। इसी कारण मुझे इस बात पर आश्चर्य है कि किसी दल अथवा किसी संगठन ने अपने आप को अछूतों के प्रति समर्पित नहीं किया। अमरीका साप्ताहिक "द नेशन" और इंगलैंड के साप्ताहिक "स्टेट्समैन" प्रभावशाली अखबार हैं। दोनों ही भारतीय स्वतंत्रता के पक्षधर हैं और ये भारत की स्वतंत्रता का दम भरते हैं। जहां तक मैं जानता हूं, किसी ने भी अछूतों की समस्याओं को नहीं उठाया है। दरअसल उनकी स्थिति को कोई स्वतंत्रता प्रेमी प्रकट नहीं कर सकता। उन्होंने मात्र हिंदू संस्था को ही मान्यता दी है, जो स्वयं को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस कहती है। अन्य हिंदू और कोई अन्य यह नहीं जानता कि वास्तव में अछूत क्या है। भारत में हिंदुओं के सिवाय सब जानते हैं कि नाम कुछ भी क्यों न रख लिया गया हो, यह संदेहातीत है कि यह मध्यमवर्गीय हिंदुओं की संस्था है, जिसको हिंदु

पूंजीपतियों का समर्थन प्राप्त है, जिसका लक्ष्य भारतीयों की स्वतंत्रता नहीं, बल्कि ब्रिटेन के नियंत्रण से मुक्त होना और वह सत्ता प्राप्त कर लेना है, जो इस समय अंग्रेजों की मुट्ठी में है। कांग्रेस जैसी आजादी चाहती है, यदि उसे वह मिल जाती है, तो इसमें कोई संदेह नहीं कि अछूतों का ठीक वही हाल होगा जो अतीत में होता रहा है। अछूतों के प्रति इस अवहेलना के संदर्भ में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की भारतीय शाखा बधाई की पात्र है जिसने प्रशांत संबंध संस्थान में मेरा प्रबंध लेख आमंत्रित किया कि मैं इस विषय पर प्रकाश डाल सकूं कि भारत के नए संविधान में अछूतों की स्थिति क्या होगी। मैं स्वीकार करता हूं कि भारत के नए संविधान में अछूतों की स्थिति पर मेरे वक्तव्य का निमंत्रण एक सुखद आश्चर्य है। मुझे इस बात से बहुत प्रसन्नता हुई है कि बहुत से काम हाथ में होने के पश्चात भी मैं यह प्रबंध लेख लिखने के लिए अपनी सहमति दे सका हूं।

अध्याय – 3

अछूतों की राजनीतिक मांगें

अछूतों की समस्याएं अनेक हैं। वास्तव में कुछ समय से मैं इन समस्याओं पर विचार करने में व्यस्त हूं, जो सैकड़ों पृष्ठों मे लिखी जानी हैं। इस प्रबंध लेख की परिधि में मैं यही कर सकता हूं कि संक्षेप में इस समस्या के लक्षण बताऊं और इस समाधान की ओर संकेत कर सकूं, जो अछूतों ने स्वयं सोचे विचारें हैं। मुझे ऐसा लगता है कि इससे बेहतर कुछ नहीं हो सकता कि मैं निम्नांकित प्रस्तावों की ओर आपका ध्यान दिलाऊं जो अखिल भारतीय परिगणित जाति संघ* ने 18 और 19 जुलाई 1942 में अपने नागपुर अधिवेशन में पारित किए।

प्रस्ताव संख्या – 2

संविधान पर सहमति आवश्यक

"यह सम्मेलन घोषित करता है कि परिगणित जातियों को कोई भी नया संविधान स्वीकार्य नहीं होगा, जब तक

(1) इस पर अनुसूचित जातियों की सहमति हो,

(2) उसमें यह बात स्वीकार की जाए कि अनुसूचित जातियों की स्थिति हिंदुओं से विशिष्ट तथा भिन्न है और भारतीय समाज में वे एक महत्वपूर्ण अंग हैं, और

(3) इसी में उन प्रावधानों का उल्लेख हो कि नए संविधान में अनुसूचित जातियों में सुरक्षा की भावना पैदा हो और जो निम्नांकित प्रस्तावों में समाविष्ट हैं।

प्रस्ताव संख्या – 3

नए संविधान में अनिवार्य प्रावधान

यह सम्मेलन मांग करता है कि अनुसूचित जातियों में सुरक्षा की भावना उत्पन्न

---

*. 1935 के गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट में अछूतों को अनुसूचित जातियां कहा गया है।

करने के लिए नए संविधान में निम्नांकित प्रावधान किए जाएं :–

(1) प्रत्येक प्रांतीय सरकार द्वारा सहमति के आधार पर अनुसूचित जातियों में प्राथमिक शिक्षा और उच्च शिक्षा के प्रोत्साहन के लिए वार्षिक धनराशि निश्चित की जाए और यह राशि प्रांतीय राजस्व से प्राथमिकता के आधार पर निकाली जाए।

(2) ऐसे कानून बनाए जाएं कि केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों के प्रशासनिक पदों को आरक्षित किया जाए जिनका अनुपात उनकी संख्या, आवश्यकताओं और महत्व के अनुरूप हो।

(3) ऐसे कानूनी प्रावधान किए जाएं कि सरकारी सेवाओं में अनुसूचित जातियें की जनसंख्या के अनुसार उनके स्थान आरक्षित किए जाएं, जो उनकी आवश्यकताओं और महत्व के अनुरूप हों। सम्मेलन इस बात पर भी बल देता है कि संरक्षित सेवाओं जैसे न्यायपालिका, पुलिस और अनुसूचित जातियों के लिए राजस्व कार्यों के लिए न्यूनतम निर्धारित योग्यता के आधार पर 10 वर्ष के अंदर नियुक्तियों का प्रावधान किया जाए।

(4) अनुसूचित जातियों को सभी विधायिकाओं और स्वायत्तशासी संस्थाओं में उनकी जनसंख्या, आवश्यकताओं और महत्व के अनुरूप प्रतिनिधित्व की गारंटी का प्रावधान हो।

(5) यह कानूनी प्रावधान किया जाए कि जहां विधायिकाओं और स्वायत्तशासी संस्थाओं में अनुसूचित जातियों को प्रतिनिधित्व दिया जाए, उसका आधार पृथक मतदान हो।

(6) यह कानूनी प्रावधान हो कि अनुसूचित जातियों के लिए सभी केन्द्रीय और प्रांतीय लोक सेवा आयोगों में प्रतिनिधित्व दिया जाए।

प्रस्ताव संख्या – 4

पृथक बस्तियां

सम्मेलन की यह सुविचारित राय है,

(क) कि जब तक अनुसूचित जातियों के लोग हिंदू गांवों के एक छोर पर बसते रहेंगे और उनके जीवनयापन का कोई साधन नहीं होगा और उनकी हिन्दुओं से संख्या कम होगी तब तक वे अछूत बने रहेंगे और हिंदुओं के अत्याचारों के शिकार होते रहेंगे और निर्भय होकर नहीं जी सकेंगे।

(ख) कि हिंदुओं के अत्याचारों से अनुसूचित जातियों को संरक्षण दिया जाए, क्योंकि स्वराज हिंदू राज के अतिरिक्त कुछ नहीं होगा तथा हालात और भी बदतर हो जाएंगे।

(ग) कि अनुसूचित जातियों के संपूर्ण विकास के लिए, उन्हें आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा प्रदान की जाए और अस्पृश्यता निवारण का मार्ग प्रशस्त किया जाए।

काफी परिपक्व विचार–विमर्श के बाद यह सम्मेलन इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि भारत में मौजूद ग्राम्य व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन किए जाएं जो सदियों से हिंदुओं द्वारा पैदा की गई अनुसूचित जातियों की सभी मुसीबतों की जड़ हैं। इन परिवर्तनों की आवश्यकता को देखते हुए यह सम्मेलन समझता है कि सरकार की प्रणाली में संवैधानिक परिवर्तन किए जाएं और मौजूदा ग्राम व्यवस्था में परिवर्तन किए जाएं जिनका निम्नांकित आधार हो :–

(1) संविधान में अनुसूचित जातियों की वर्तमान बस्तियों को स्थानांतरित किया जाए, पृथक अनुसूचित जातीय गांव बसाए जाएं, जो हिंदुओं के गांवों से दूर और स्वतंत्र हों।

(2) अनुसूचित जातियों के नए गांवों के लिए आवास आयोग की स्थापना की जाए।

(3) कृषि योग्य भूमि जिस पर किसी का कब्जा नहीं है, आयोग को दे दी जाए, जो अनुसूचित जातियों की नई बस्तियों को बसाने के काम में लाई जाए।

(4) अनुसूचित जातियों के आवास की योजना के लिए आयोग को अधिकार दिए जाएं कि वह भूमि अभ्यप्ति कानून के अनुसार निजी मालिकों से जमीन खरीद सके।

(5) संविधान में व्यवस्था की जाए कि केन्द्र सरकार आवास आयोग को प्रति वर्ष पांच करोड़ रुपये दे, जिससे आयोग अपना कार्य संपन्न कर सके।

अध्याय – 8

अलग बस्तियां

प्रस्ताव संख्या 4, जिसका उल्लेख इस लेख के पहले भाग में किया गया है, मैं समझता हूं वह स्वयं ही एक व्याख्या है और उसके लिए विस्तृत टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है और इस संक्षिप्त प्रबंध लेख में इससे अधिक विवरण देना संभव भी नहीं है। अलग बस्तियों की मांग अछूतों के लिए नव–जीवन आंदोलन कही जा सकती है। इस आंदोलन का उद्देश्य अछूतों को हिंदुओं की दासता से मुक्त कराना है। जब तक मौजूदा व्यवस्था रहेगी, तब तक अछूतों के लिए यह संभव नहीं हो सकेगा कि वे हिंदुओं से दूर जा सकें या अस्पृश्यता से छुटकारा पा सकें। अछूतों का भाग्य हिंदुओं के साथ गहनता से गुथा हुआ है कि वे उन्हें अछूत बना देते हैं जिससे उनकी पहचान अछूतों के रूप में होती है। निस्संदेह भारत एक ग्राम प्रधान देश है और जब तक ग्रामीण जीवन में उन्हें अछूतों के रूप में जाना जाता रहेगा, अछूतों को अस्पृश्यता से मुक्ति नहीं मिल सकती। ग्रामीण व्यवस्था अस्पृश्यता को जीवित रखती है और इसलिए अछूत यह मांग करते हैं कि ग्रामीण व्यवस्था को भंग किया जाए और जो अछूत सामाजिक रूप से पृथक बना दिये गये हैं, उन्हें भौगोलिक और क्षेत्रीय दृष्टि से भी पृथक कर दिया जाए और उनके अलग गांव बसाए जाएं, जिसमें ऊंच–नीच और छूत–अछूत का भेद मिट जाएगा।

अछूतों की अलग बस्तियों के लिए मांग गांवों में अछूतों की आर्थिक दशा के कारण भी उठाई गई है। इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता कि उनकी दशा अत्यंत दयनीय है। वहाँ कुछ भूमिहीन मजदूर हैं, वे रोटी–रोजी के लिए हिंदुओं पर निर्भर करते हैं। हिंदू उन्हें जितनी मजदूरी पर रखना चाहें वह उन्हें मंजूर करनी होती है। जिन गांवों में वे रहते हैं, वहां वे कोई व्यापार या व्यवसाय नहीं कर सकते। अस्पृश्यता के कारण हिंदू उनसे कोई सहयोग नहीं करेंगे, इसलिए यह स्वाभाविक है कि अछूत जिस व्यवसाय को करना चाहेंगे, जब तक वे हिंदुओं के गांवो में रहेंगे उसे नहीं अपना सकेंगे। आर्थिक निर्भरता उनकी गरीबी और अपमानजनक स्थिति का परिणाम है। हिंदुओं की एक जीवन शैली है, जो उनके धर्म का एक अंग है। इस जीवन शैली में उनको बहुत से विशेषाधिकार

प्राप्त हैं; और अछूतों के सिर पर अपमानों का बोझ लदा हुआ है, जो मानवता के मूल्यों से मेल नहीं खाता। देश में फैले अछूतों का नवजीवन आंदोलन हिंदुओं द्वारा किए जाने वाले अपमान और अन्याय के विरूद्ध संघर्ष है, जो हिंदुओं ने धर्म के नाम पर उनके मत्थे मढ़ दिया है। हिंदुओं और अछूतों में भारत के हर गांव में भीतर ही भीतर संघर्ष चल रहा है। अभी यह प्रकट नहीं हुआ है। हिंदू समाचार पत्र इस बात को प्रचारित नहीं कर रहे हैं कि कहीं विश्व की नजरों में उनकी आजादी के प्रयत्नों की पोल न खुल जाए। लेकिन एक प्रशांत संघर्ष वास्तविकता है। ग्रामीण प्रणाली में सम्मानित जीवन संघर्ष में अछूत अपने आपको बेबस पाते हैं। यह संघर्ष आर्थिक और सामाजिक रूप से सबल हिंदुओं और आर्थिक रूप से दीन हीन और सामाजिक रूप से छोटे से वर्ग अछूतों के बीच है। हिन्दू अक्सर अछूतों को कुचलने में कई कारणों से सफल हो जाते हैं। पुलिस और अदालतें हिंदुओं के पक्ष में होते हैं। हिंदुओं और अछूतों के बीच विवाद में अछूतों को पुलिस से संरक्षण और अदालतों से न्याय नहीं मिलता। पुलिस और मजिस्ट्रेट हिंदू हैं और वे अपने कर्तव्य के बजाय अपने वर्ग की ओर झुक जाते हैं परंतु हिंदुओं के हाथ में मुख्य हथियार आर्थिक शक्ति है जो गांवों में बसने वाले गरीब अछूतों पर भारी पड़ती है। हिंदू जिस आर्थिक सम्पन्नता के कारण अछूतों के समानता संघर्ष को दबा सकते हैं उसका उल्लेख 1928 में बम्बई द्वारा बनाई गई समिति की रिपोर्ट में किया गया है जो दलित जातियों की शिकायतों के विषय में तैयार की गई थी। उसी से निम्नांकित सार–संक्षेप लिए गया है। इसमें इतनी सरलता से स्थिति पर प्रकाश डाला गया है कि हिंदुओं की सामाजिक व्यवस्था से अनभिज्ञ विदेशी भी समझ जाएं कि हिंदू अछूतों पर क्या क्या जुल्म कर सकते हैं। समिति ने कहा है :

> "हालांकि हमने दलित जातियों को नागरिक उपयोग के सभी अधिकार दिलाने की सिफारिश की है फिर भी हमें डर है कि अभी बहुत दिनों तक उनके पालन में कठिनाइयां होंगी। पहली कठिनाई तो यह है कि कट्टर हिंदू उनके विरूद्ध खुलमखुल्ला हिंसा पर उतर आएंगे। यह उल्लेखनीय है कि प्रत्येक गांव में दलित जातियों के लोग बहुत थोड़ी संख्या में हैं, इसके विपरीत कट्टरपंथियों की संख्या बहुत अधिक है, जो दलित जातियों की ओर से अपने हितों और महत्व पर आक्रमण की निर्मूल आशंका से किसी भी कीमत पर संरक्षण को तैयार रहते हैं। पुलिस कार्रवाई के भय से कट्टरपंथियों द्वारा हिंसा कुछ सीमा तक नहीं हो पाती है। इसी कारण ऐसी घटनाएं गिनी–चुनी ही होती हैं।
>
> दूसरी कठिनाई दलितों की मौजूदा आर्थिक स्थिति है। प्रेसीडेंसी के अधिकांश भागों में दलित आर्थिक दृष्टि से पराश्रित हैं। कुछ लोग

कट्टरपंथी वर्गों की जमीन आसामियों की हैसियत से उनकी मर्जी पर जोतते हैं। कुछ लोग कट्टरपंथियों के यहां खेत मजदूरों के रूप में काम करते हैं, बाकी गांव की खिदमत के बदले में मिलने वाले खाने या अनाज पर गुजारा करते हैं। हमें ऐसे बहुत से मामले सुनने को मिले हैं, जहां कट्टरपंथियों ने अपनी धन–सत्ता को दलितों के विरुद्ध हथियार के रूप में इस्तेमाल किया है। जब दलितों ने अधिकारों का इस्तेमाल करना चाहा, तो उनकी जमीन छीन ली गई, उनको काम से निकाल दिया गया और गांव की सेवा से उन्हें हटा दिया गया। उनका बहिष्कार इस हद तक किया जाता है कि उन्हें आम रास्तों पर नहीं चलने दिया जाता और गांव के बनिए उन्हें रोजमर्रा की जरूरत की चीजें नहीं बेचते। ऐसी बातें भी बताई गई हैं कि कभी–कभी छोटी मोटी बातों पर भी दलितों का सामाजिक बहिष्कार कर दिया जाता है। अधिकतर तो तब जब दलित जातियों के लोग सार्वजनिक कुओं से पानी लेने की कोशिश करते हैं, ऐसी घटनाएं घटती हैं। परंतु ऐसे मामले भी कम नहीं हैं, जब इसी बात पर दलितों का कठोर बहिष्कार कर दिया जाता है कि वे जनेऊ पहन लेते हैं, जमीन का कोई टुकड़ा खरीद लेते हैं, अच्छे वस्त्र या जेवर पहन लेते हैं या उनको बारात में दूल्हे को घोड़ी पर चढ़ा कर निकाला जाता है।"

अलग बस्तियां बसाए जाने की मांग एक नई मांग है, जो अछूतों ने पहली बार रखी है। यह कहना संभव नहीं है कि हिंदू इस मांग पर क्या रवैया अपनाएंगे। परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि अछूतों द्वारा पेश की गई यह सबसे महत्त्वपूर्ण मांग है और मुझे विश्वास है कि अन्य मांगों के बारे में कुछ भी हो वे इस मांग पर नहीं झुक सकते। हिंदुओं की यह सोच है कि हिंदुओं और अछूतों का संबंध ईश्वर ने बनाया है। जैसा कि बाइबल में कहा गया है, पति अपनी पत्नी से जुड़ा है और वे बाइबल की भाषा बोलेंगे कि जो प्रभु इच्छा से मिलाए गए हैं कोई मनुष्य उन्हें जुदा नहीं कर सकता। अछूतों ने प्रण कर लिया है कि हिंदुओं के साथ ऐसे किसी भी संबंध को वे स्वीकार नहीं करते। वे इस रिश्ते को तोड़ देना चाहते हैं और हिंदुओं से अविलंब अलग हो जाना चाहते हैं।

इस संबंध में केवल एक प्रश्न उठता है कि इस कार्य पर आने वाला खर्च कौन उठाएगा? खर्च के बारे में अछूत कहते हैं कि वह सरकार उठाए। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह हिंदुओं पर ही आकर पड़ेगा। परंतु इसका कोई कारण नहीं कि हिंदु इसे न उठाएं। हिंदुओं की मुट्ठी में ही तो सब कुछ है। देश भर में जमीन के मालिक वही है, व्यापार उनके हाथ में है और सरकार भी उन्हीं की है। राजस्व और लाभ के सभी साधन उनके नियंत्रण में हैं। अन्य समुदाय

मुख्य रूप से अछूत, लकड़हारे और पनिहारे हैं। हिंदुओं की सामाजिक व्यवस्था ने हर चीज का एकाधिकार उन्हें सौंप रखा है। इसका कोई कारण नहीं कि उनसे इस योजना की कीमत चुकाने के लिए न कहा जाए, जबकि वास्तव में सब कुछ उनके ही पास है।

जहां तक समय की बात है, यह तो छोटी सी बात है। यदि अछूतों के स्थानांतरण में बीस वर्ष भी लग जाएं – जो लोग हजारों वर्ष से हिंदुओं के गुलाम रहे हैं – वे 20 वर्ष में ही सही उस गुलामी से मुक्ति पर प्रसन्न होंगे।

अध्याय – 9

जाति और संविधान

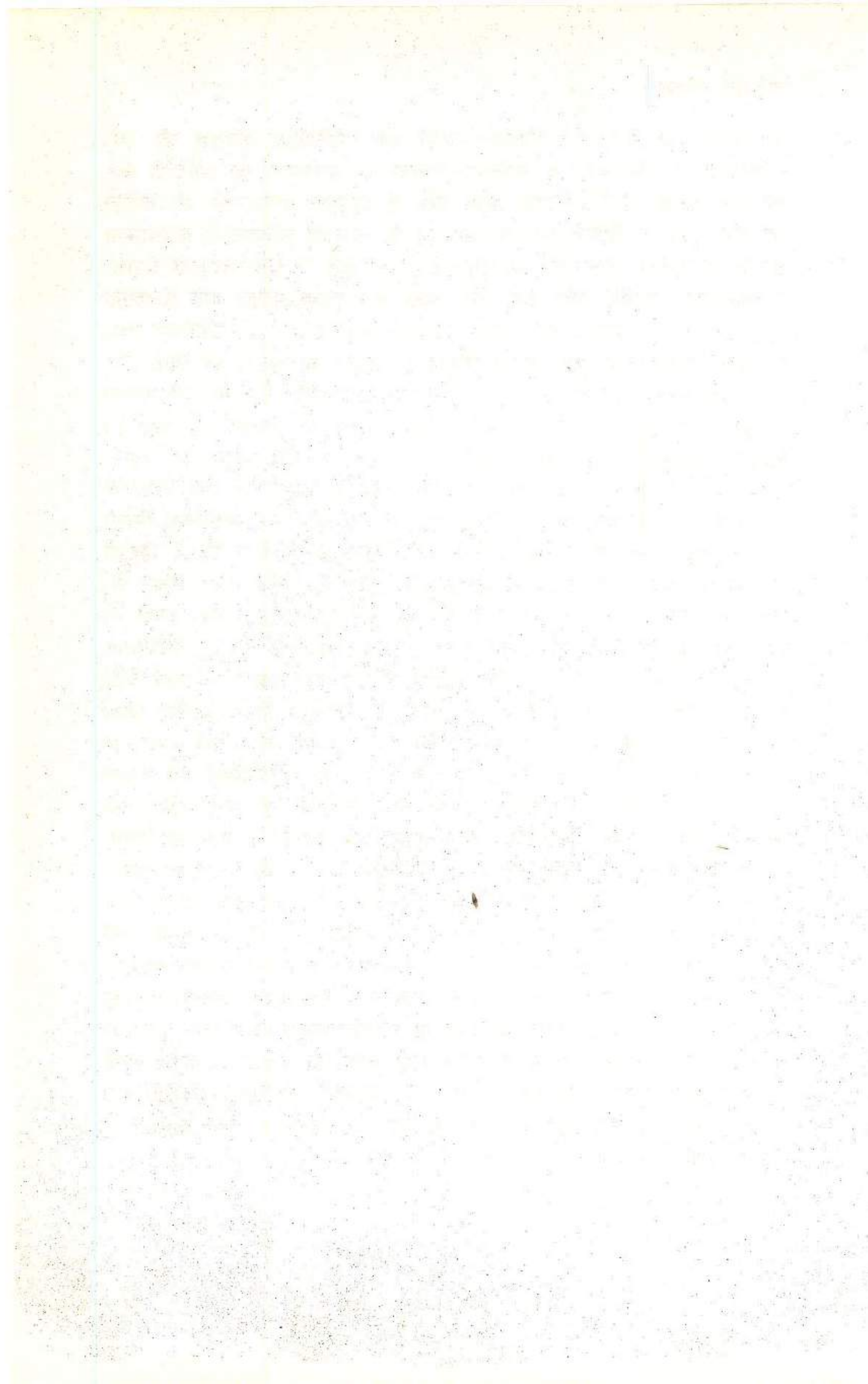
यह प्रश्न न्यायसंगत है कि अछूतों की मांगों को संविधान में क्यों शामिल किया जाए? विश्व में कहीं भी संविधान निर्माताओं के समक्ष यह विवशता नहीं थी कि वे ऐसे मामलों को देखें। मैं मानता हूं कि यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है और जो इस प्रश्न को उठा रहे हैं या इस बात पर जोर दे रहे हैं कि इसका संवैधानिक महत्व है, इसके उत्तर की उनसे ही अपेक्षा है। मेरी दृष्टि में इसका उत्तर स्वाभाविक है। भारत की सामाजिक व्यवस्था से ही यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इसका संवैधानिक महत्व है। केवल हिंदुओं की जाति प्रथा और सामाजिक व्यवस्था ही इसके लिए उत्तरदायी है। विदेशियों के समक्ष यथोचित व्याख्या के लिए हिंदू–समाज और धर्म–व्यवस्था के फलितार्थ बताने के लिए यह संक्षिप्त वक्तव्य पर्याप्त नहीं है बल्कि यह भी सत्य है कि इस रिपोर्ट की सीमित परिधि में यह बताना असंभव है कि जाति प्रथा के संविधान में क्या फलितार्थ होंगे। मैं जातियों के उन्मूलन संबंधी अपनी पुस्तक में इस पर पूरी तरह प्रकाश डालूंगा, जिसे मैंने कुछ दिन पूर्व लिखा है। मुझे विश्वास है कि इससे हिंदुओं की जाति और धार्मिक व्यवस्था के सामाजिक और आर्थिक पक्ष पर काफी प्रभाव डाला गया है। इस प्रबंध लेख मे मैं संक्षेप में निम्नांकित सामान्य जानकारी ही पेश करुंगा। संविधान की रचना में सामाजिक ढांचे का सदैव ध्यान रखना होता है। सामाजिक तत्वों की सक्रियता केवल सामाजिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहती। वे राजनीति में भी घुस जाते हैं। अछूतों का यही विचार है और मुझे विश्वास है कि यह तथ्य निर्विवाद है। हिंदू इस दलील और इसकी प्रबलता से पूरी तरह अवगत हैं। परंतु वे इस बात से मुकर जाएंगे कि हिंदू समाज व्यवस्था यूरोपीयन समाज व्यवस्था से भिन्न है। वे इस तर्क का उत्तर देने के लिए यह कहेंगे कि हिंदुओं की जाति प्रथा और पश्चिमी समाज की वर्ग व्यवस्था के बीच कोई भेद नहीं है। यह वास्तव में सफेद झूठ है और वे फिर भी यह साबित कर देंगे कि वे वर्ग व्यवस्था और जाति व्यवस्था का भेद ही नहीं जानते। जाति प्रथा का मूल है विलगाव और इसमें एक जाति को दूसरी जाति से भिन्न माना जाता है। दूसरे समाजों की व्यवस्था में विभाजन गुणात्मक है। वर्ग प्रणाली में भी भिन्नता का

स्थान है किंतु वह किसी वर्ग के कार्यों को जन्म–जन्मांतर के लिए तय करने के लिए नहीं है और न ही उसमें सामाजिक मेल–मिलाप पर कोई प्रतिबंध होता है। वर्ग व्यवस्था श्रेणियों के सही विभाजन की व्यवस्था है। जाति व्यवस्था ऐसी नहीं है। वर्ग व्यवस्था में वर्गों का सामाजिक रूप से विभाजन नहीं होता जबकि जाति प्रथा में भिन्न–भिन्न जातियों के बीच निर्धारित परस्पर संबंध निश्चित रूप से अनिवार्य और अविनाशी होते हैं, जो पक्के तौर पर असामाजिक हैं। यदि वह विश्लेषण सही है, तो इस तथ्य से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि हिंदू समाज व्यवस्था का स्वरूप भिन्न है, तो इस का परिणाम यही होगा कि हमारा राजनीतिक स्वरूप भी भिन्न होना चाहिए। अछूतों की कामना यही है, उसे सीधे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि साधन और साध्य में समन्वय होना चाहिए और साध्य एक ही होना चाहिए। यदि साध्य एक भी हो तो यह आवश्यक नहीं कि उसे प्राप्त करने के साधन भी समान होंगे। दरअसल साध्य एक ही होने पर भी काल और परिस्थिति के अनुकूल साधनों में भिन्नता भी हो सकती है। जिनके साध्य शुभ हैं और वे चाहते हैं कि उनका साध्य फूहड़ न कहलाए तो उन्हें दूसरे साधन अपनाने होंगे।

इस संबंध में एक और बात का उल्लेख करना चाहूंगा। जैसा कि मैंने कहा, हिंदुओं की जाति व्यवस्था को देखते हुए यह आवश्यक है कि यहां की राजनीतिक व्यवस्था भिन्न होनी चाहिए और वह सामाजिक ढांचे के अनुरूप निर्धारित हो। बहुत से लोग इसे स्वीकार करते हैं परंतु तर्क देते हैं कि हिंदू समाज में जातियां तोड़ी जा सकती हैं। मैं इस बात को स्वीकार नहीं करता। जो यह कहते हैं वे सोचते हैं कि जाति कोई ऐसी संस्था है जैसे क्लब, नगरपालिका या काउंटी कौंसिल; यह एक बड़ी भूल है। जाति धर्म और धर्म संस्था के सिवाय कुछ भी हो सकता है। यह संस्थाकृत है परंतु जैसी इसकी रचना है, उसके परिप्रेक्ष्य में ऐसी कोई संस्था नहीं है। धर्म एक प्रवाह या ऐसी शक्ति है, जो हर व्यक्ति में रचा बसा है और व्यक्ति के चरित्र को प्रभावित करता है और उसके कार्य, व्यवहार और पसंद–नापसंद को निर्धारित करता है। ये पसंद–नापसंद, कार्य और व्यवहार ऐसी संस्था नहीं हो सकते, जिन पर कोई और रंग चढ़ सके। सीधे शब्दों में यह "काली कमली" है। यह ऐसी शक्ति है, ऐसा प्रवाह है, जिसे नियंत्रित करने के लिए उसकी काट भी होनी चाहिए। यदि सामाजिक तत्वों का राजनीति में घालमेल रोकना है और मुट्ठी भर लोगों के वर्चस्व पर नियंत्रण रखना है, बहुत से लोगों को हेयता की पीड़ा से बचाना है, तो यह आवश्यक है कि राजनीतिक संरचना ऐसी हो जो सामाजिक तत्वों के संभावित पूर्वाग्रहों को लगाम दे सके, अन्याय को रोक सके।

अब तक मैंने सामान्य रूप से यह स्पष्ट किया है कि विशिष्ट प्रकृति वाले

हिंदू समाज के लिए एक विशिष्ट प्रकृति को राजनीतिक व्यवस्था की क्यों आवश्यकता है, और भारत के संविधान–निर्माता इन समस्याओं को अनदेखी क्यों नहीं कर सकते, जैसी समस्याएं अन्य देशों के संविधान निर्माताओं को दरपेश नहीं होती। अब मैं विशिष्ट प्रश्न पर आता हूं कि भारतीय संविधान में सांप्रदायिक योजना को शामिल करना क्यों आवश्यक है और अछूतों के लिए सरकारी सेवाओं में स्थान क्यों आरक्षित किए जाएं और उनके लिए पृथक अवसर क्यों आवश्यक हैं। इन मांगों का औचित्य सहज और स्वाभाविक है। यह बात इस निर्विवाद तथ्य से उत्पन्न होती है कि इसी कारण हिंदुओं से अछूतों को अलग कर दिया गया है और वह भेदभाव अनावश्यक है। यह जन्मजात कटुता और तिरस्कार का मामला है। इस तिरस्कार और कटुता के लिए किसी साक्ष्य की आवश्यकता नहीं है। चिरंतन अस्पृश्यता का व्यवहार हिंदुओं और अछूतों के बीच कटुता का पर्याप्त साक्ष्य है। ऐसी कटुता देखते हुए यह असंभव है कि अछूतों से कहा जाए कि वे इस बात पर विश्वास कर लें कि अंग्रेजों से स्वतंत्रता और स्वाधीनता मिलने के बाद हिंदू उनके साथ न्याय करेंगे। जब अछूत यह कहते हैं कि वे हिंदुओं पर विश्वास नहीं करते तो कौन कह सकता है कि यह कोई गलत कथन है। हिंदू उनके लिए उतना ही पराया है, जितना कोई यूरोपवासी बल्कि उससे भी बदतर बात तो यह है कि यूरोप वाले पराए होकर तटस्थ तो हैं हिंदू तो निर्लज्जता से अपने वर्ग का पक्ष–पोषक है और अछूतों के प्रति दंभ रखता है। इसमें कोई सदेह नहीं कि युगों–युगों से हिंदुओं ने अछूतों को तिरस्कृत और अपमानित किया है, क्योंकि वह एक अलग और घृणित वर्ग का है बेशक वह दूसरी नस्ल का न भी हो। अपनी मान्यताओं के अनुरूप हिंदू अपने को अतिविशिष्ट वर्ग मानता है। वह अपने पूर्वाग्रहों के कारण अछूतों की आकांक्षाओं का कभी ध्यान नहीं रखता। उनसे वह कोई संबंध नहीं रखना चाहता और वह उनके हितों का विरोधी है। ऐसे लोगों के साथ अछूत क्यों बंधे रहें? अछूतों से यह कैसे कहा जा सकता है कि वे अपने हित ऐसे लोगों के हाथों में सौंप दें जो पूरी तरह उनके हितों और आंकाक्षाओं के विरोधी हैं, जो अछूतों की जीवंतता के प्रति सहानुभूति नहीं रखते, जिनकी उनके प्रति कोई रूचि और मनोभावना नहीं है, जो उनकी अपेक्षाओं से खार खाते हैं, वे निश्चिंत रूप से उनके साथ न्याय नहीं करेंगे। उनसे भेद–भाव बरतेंगे और वे आज तक अपने धर्मादेशों के अनुसार अछूतों के विरूद दुर्व्यवहार के प्रति लज्जा महसूस नहीं करते बल्कि कदम कदम पर अमानवीय बर्ताव करते हैं। ऐसे लोगों से सुरक्षा का एक ही उपाय है। राजनीतिक अधिकार–जिनकी मांग है कि अछूतों को हिंदू बहुसंख्यकों के अत्याचारों से बचाने के लिए संविधान में स्पष्ट व्याख्या की जाए। क्या सुरक्षा की ये मांग बेतुकी हैं?



अध्याय – 10

हिंदुओं और उनके मित्रों से कुछ प्रश्न

इस राजनैतिक विवाद में यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदू भिन्न–भिन्न संप्रदायों के साथ भिन्न–भिन्न बर्ताव करते हैं। भारत में केवल अछूत ही अपने लिए संरक्षा की मांग नहीं कर रहे हैं। अछूतों की तरह मुसलमानों और सिखों ने भी हिंदुओं के सामने अपनी मांगें रखी हैं। किसी भी तरह यह नहीं कहा जा सकता कि मुसलमान और सिख निरीह अल्पसंख्यक हैं। इसके विपरीत वे भारत के अत्यंत शक्तिशाली समुदाय हैं। शैक्षिक दृष्टि से वे काफी विकसित हैं और आर्थिक दृष्टि से संपन्न हैं। उनकी सामाजिक हैसियत हिंदुओं की तरह काफी ऊंची है। उनके सुदृढ़ संगठन हैं और कोई हिंदू उन्हें तिरछी निगाह से देखने का दुस्साहस नहीं कर सकता। उन्हें बहुत कम हानि पहुंचाई जा सकती है।

मुसलमानों और सिखों की राजनीतिक मांगें क्या हैं? उनका वर्णन करना इस समय संभव नहीं है। परंतु आम राय यह है कि वे काफी बेतुकी हैं और हिंदू उनके प्रति असंतुष्ट हैं। इसके विपरीत अछूतों की मांगें और शर्तें न्यायसंगत और मुसलमानों तथा सिखों की मांगों और शर्तों से भिन्न हैं। वे कमजोर निरीह और दीन–हीन अल्पसंख्यक हैं। वे सभी की कृपा पर निर्भर हैं और ऐसे कम अवसर नहीं आए हैं, जब हिंदुओं, मुसलमानों और सिखों ने मिल कर इनका विरोध न किया हो। सभी अल्पसंख्यकों में इन्हें सबसे अधिक संरक्षण और सुदृढ़ सुरक्षा की जरूरत है। इनकी मांगें मामूली सी हैं और उन्हें फालतू आश्वासन भी नहीं चाहिए, जैसा कि मुसलमान और सिख चाहते हैं। मुसलमानों, सिखों और अछूतों की मांगों पर हिंदुओं की क्या प्रतिक्रिया है? हालांकि मुसलमानों और सिखों की मांगें बेतुकी हैं, परंतु हिंदु उन पर खास तौर से मुसलमानों की मांग पर समझौते के लिए सदा तैयार रहते हैं। वे मुसलमानों से केवल संबंध ही सुधारना नहीं चाहते बल्कि उनके प्रति नरम भी हैं, यहां तक कि उदार भी हैं। राजनीतिक लाभ के लिए श्री राजगोपालचारी के राजनीतिक दावपेंच की याद अब तक ताजा है। वे अचानक मुस्लिम लीग के समर्थक बन गए हैं और उन्होंने अपने ही लोगों तथा पुराने मित्रों के साथ युद्ध की घोषणा क्यों कर दी है? मुसलमानों की

न्यायसंगत मांगों के लिए नहीं; बल्कि पाकिस्तान बनाने की बेतुकी मांग के लिए। अछूतों की मांग पर राजगोपालचारी क्या कहते हैं? जहां तक मैं समझता हूं, उनके होठ सिले हुए हैं। उन्हें तो शायद यह तक पता नहीं कि इस देश में 6 करोड़ अछूत हैं। वे भी मुसलमानों की तरह अपने लिए राजनीतिक संरक्षण चाहते हैं। श्री राजगोपालचारी की यह सोची समझी चुप्पी और घोर उपेक्षा हिंदुओं की प्रवृत्ति है। अछूतों की राजनीतिक मांगों का हिंदू एक पूरी हठधर्मिता और बदहवासी के साथ विरोध कर रहे हैं। प्रेस उनकी पिट्ठू है और वे अछूतों की मांग की उपेक्षा करने के सुनियोजित प्रयत्न करते हैं। जब वे उनकी अवहेलना करने में विफल हो जाते हैं, तो उनके नेताओं को खरीद लेते हैं और जिस नेता के बारे में सोचते हैं कि उसे खरीदा नहीं जा सकता तो वे उसे गालियां बकने तक पर उतर आते हैं और उसके बारे में गलत अफवाहें फैलाते हैं। धौंसपट्टी देते हैं और जहां तक उनका वश चलता है, उसे दबाने और उसका मुंह बंद करने की कोशिश करते हैं। ऐसा नेता जो अछूतों के हितों के लिए जूझने को कटिबद्ध है, उसे और उसके अनुयायियों को गद्दार के रूप में पेश कर, उसकी निंदा की जाती है। अछूतों की राजनीतिक मांग से हिंदू इतने क्षुब्ध हो जाते हैं कि वे अपने क्रोध के कारण यह नहीं सोचते कि अछूत कितने उदार हैं कि वे जरा से राजनीतिक संरक्षण के बदले हिंदू बहुसंख्यकों का शासन स्वीकार करने के लिए तैयार हैं। हिंदू इस बात से अवगत नहीं हैं कि संयुक्त आयरलैंड पर रेडमोंड और कारसन की बातचीत के दौरान रेडमोंड ने कारसन से क्या कहा था। यह घटना उल्लेखनीय है। रेडमोंड ने कारसन से कहा "अल्शर के प्रोटेस्टेंट अल्पसंख्यकों के लिए कुछ भी सरक्षण मांगें, मैं उन्हें देने के लिए तैयार हूँ।" कारसन का उत्तर बड़ा अक्खड़ और कठोर था जिसने विचार के लिए समय मांगे बिना कहा –– "तुम्हारे संरक्षण भाड़ में जाएं, मैं तुम्हारे अधीन नहीं रहना चाहता।" हिंदुओं को आभारी होना चाहिए कि अछूतों ने कारसन जैसा व्यवहार नहीं किया है। पर आभारी होने के बजाए वे अछूतों पर भिन्नाते हैं कि वे राजनीतिक संरक्षण मांग रहे हैं। हिंदुओं की नजर में अछूतों को अधिकार मांगने का कोई हक नहीं है। विभिन्न समुदायों की राजनीतिक मांगों पर हिंदुओं का भिन्न–भिन्न रवैया क्यों है? इससे तीन बातें प्रकट होती हैं : (1) वे सारे अधिकार स्वयं समेट लेना चाहते हैं, (2) वे अपनी राजनैतिक संस्थाओं को न्याय पर आधारित रखने को तैयार नहीं, (3) वे धौंस–पट्टी के आगे घुटने टेक देते हैं, परंतु न्याय की पुकार नहीं सुनते।

हिंदुओं की यह मनोवृत्ति भारतीय राजनीति का दुखद पक्ष है। भारतीय राजनीति में अस्पृश्यता ही अकेला दुखद पक्ष नहीं है। इतना ही दुखद पक्ष एक और भी है। वह है विदेशों में हिंदुओं के दोस्त। हिंदुओं ने प्रचार की चालबाजी से दुनिया भर में खास तौर से स्वतंत्रता की भूमि अमरीका में बहुत से मित्र

पैदा कर लिए हैं। दुखद बात यह है कि हिंदुओं के ये दोस्त यह सोचे बिना हिंदुओं का समर्थन कर रहे हैं कि क्या यह वही पक्ष है जिसका समर्थन करना न्याय का तकाजा है। जहां तक मैं समझता हूं, हिंदुओं के किसी अमरीकी मित्र ने अभी तक यह नहीं पूछा है कि हिंदू चाहते क्या हैं? वे स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे हैं या सत्ता के लिए? यदि हिंदू सत्ता के लिए लड़ रहे हैं, तो क्या अमरीकी दोस्तों का हिंदुओं की सहायता करना न्यायसंगत है? यदि हिंदू स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर रहे हैं, तो क्या उनसे अपना लक्ष्य घोषित करने के लिए नहीं कहा जाना चाहिए? अमरीकी कम से कम इतना तो कर ही सकते हैं। यदि अमरीकी मित्र हिंदुओं के आह्वान पर सक्रिय होना ठीक मानते हैं, तो अमरीकियों को यह बताना आवश्यक है कि स्वतंत्रता के लिए हिंदुओं के पक्ष में बिना सोचे समझे अंधाधुंध समर्थन करने में वे क्या गलती कर रहे हैं। मेरा कहना वही है जो स्वयं हिंदुओं ने कहा है। जब युद्ध शुरु हुआ था, तो कांग्रेसी और कांग्रेस से बाहर के हिंदुओं ने मांग की थी कि ब्रिटेन को युद्ध में अपने लक्ष्यों को घोषित करना चाहिए। प्रति दिन अंग्रेजों से कहा गया "यदि आप हमारी सहायता चाहते हैं, तो हमें यह बताओ कि आप किसलिए लड़ रहे हैं? यदि आप स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे हैं, तो हमें बताओ कि क्या आप हमें भी स्वतंत्रता देंगे जिसके लिए आप यह युद्ध लड़ रहे हैं। एक समय था, जब हिंदू ब्रिटेन के इस आश्वासन पर संतुष्ट हो जाने को तैयार थे कि भारत को उस स्वतंत्रता युद्ध से लाभ होगा, जो वे लड़ रहे हैं। उन्होंने एक कदम आगे बढ़ाया है। अब वे मात्र अंग्रेजों के वायदे से ही संतुष्ट नहीं हैं। या इसे कांग्रेस के शब्दों में ही कहें "वे इस बैंक के पेशगी चेक लेने के लिए तैयार नहीं हैं, जो डूब रहा है।" वे चाहते हैं युद्ध के लिए भारतीयों को स्वैच्छिक समर्थन से पूर्व ही तुरंत स्वतंत्रता दे दी जाए। श्री गांधी का नया नारा "भारत छोड़ो" महत्वपूर्ण है। श्री चर्चिल इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए जिम्मेदार हैं, उन्होंने जवाब दिया है कि युद्ध का उद्देश्य शत्रु पर विजय पाना है। हिंदु इससे संतुष्ट नहीं हैं। उन्होंने उनसे फिर पूछा — "जब आप विजय प्राप्त कर लेंगे, तो आप क्या करेंगे? युद्ध के बाद आपकी सामाजिक व्यवस्था क्या होगी?" जब श्री चर्चिल ने उत्तर दिया कि आशा के अनुसार युद्ध के बाद परंपरागत ब्रिटेन को बहाल किया जाएगा, तो इस उत्तर से तूफान उठ खड़ा हुआ। मैं इस बात से सहमत हूं कि ये जायज सवाल थे। परंतु हिंदुओं के दोस्त ऐसा नहीं सोचते कि श्री चर्चिल से यदि ऐसा सवाल पूछा जाना जायज है, तो क्या श्री गांधी और हिंदुओं से वही सवाल पूछा जाना जायज नहीं है। अंग्रेजों ने हिटलर के साथ युद्ध छेड़ा। श्री गांधी ने अंग्रेजों के विरूद्ध युद्ध की घोषणा की है। अंग्रेजों का एक साम्राज्य है। हिंदुओं का भी है, क्योंकि हिंदुत्व एक साम्राज्यवादी व्यवस्था है। क्या अछूत एक शासित प्रजा नहीं है, जो हिंदू स्वामियों के आधिपत्य में है? यदि चर्चिल से युद्ध का उद्देश्य घोषित करने

के लिए कहा जाता है, तो श्री गांधी और हिंदुओं से उनके संग्राम का उद्देश्य क्यों नहीं पूछा जा सकता? दोनों का कहना है कि उनका संग्राम स्वतंत्रता के लिए है। यदि यह बात है तो दोनों का यह कर्तव्य है कि वे संग्रम के उद्देश्यों को घोषित करें। ब्रिटेन से युद्ध जीत लेने के बाद श्री गांधी का उद्देश्य क्या होगा? क्या जिस स्वतंत्रता की उन्हें आशा है, उसके बाद वे अछूतों को भी स्वतंत्र कर देंगे या वे हिंदूओं को आज से भी अधिक अधिकार सौंप देंगे और अछूतों को उनका बंधक बनाए रखेंगे? क्या श्री गांधी और हिंदू नई व्यवस्था कायम करेंगे या परंपरागत हिंदू भारत की पुनर्स्थापना से संतुष्ट हो जाएंगे, जिसमें जाति प्रथा और अस्पृश्यता मौजूद होगी और स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व को दरकिनार कर दिया जाएगा? मुझे सोचना चाहिए कि यह सवाल तथाकथित स्वाधीनता संग्राम में सहायता करने वाले अमरीकी दोस्तों को श्री गांधी और हिंदुओं से पूछना चाहिए। ये प्रश्न वैध और स्पष्ट है। केवल इसी के उत्तर से अमरीकी मित्रों को यह पता चलेगा कि श्री गांधी का संग्राम स्वतंत्रता के लिए है या सत्ता के लिए। ये प्रश्न केवल स्पष्ट और वैध ही नहीं हैं, आवश्यक भी हैं। जो हिंदुओं को जानते हैं उनके लिए इनका औचित्य है। हिंदू अंर्तजात और कट्टर अनुदारवादी हैं और उनका धर्म स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व के अनुरूप नहीं। निस्संदेह विश्व में सर्वत्र लोकतंत्र में असमानता मौजूद है पर अन्यत्र परिस्थितियों पर आधारित होती है, उसे धर्म से मान्यता नहीं मिलती। हिंदुओं की बात अलग है। हिंदू समाज में केवल असमानता ही नहीं है, बल्कि असमानता हिंदू धर्म का प्राण है। हिंदुओं की समानता में रुचि नहीं है। उनकी अभिरुचि और प्रवृत्ति सभी व्यक्तियों के समान मूल्य के लोकतांत्रिक सिद्धात के विरूद्ध है। प्रत्येक हिंदू धार्मिक दृष्टि से अनुदार और राजनीतिक दृष्टि से क्रांतिकारी है। श्री गांधी भी इस नियम का अपवाद नहीं हैं। दुनियां के सामने वे उदार बनते हैं, परंतु उनका उदारवाद एक मुखौटा है जो एकदम झीना-झीना है। आप कुरेदिए तो पता चलेगा कि उनके उदारवाद में अभिजात अनुदारवाद भरा है। वे जाति को कोसते हैं। वे कट्टर हिंदू हैं, जो हिंदू धर्म को मानते हैं। देखिए हिंदू 1976 की स्वाधीनता की प्रसिद्ध अमरीकी घोषणा को किस प्रकार लेते हैं। जब वह स्वाधीनता का यह अंश पढ़ते हैं तो खुशी से झूम उठते हैं –

> "कि जब कोई सरकार इन उद्देश्यों का विध्वंस करने लगे तो जनता को यह अधिकार है कि वह उसे बदल डाले और नई सरकार बनाए, जिसकी आधारशिला ऐसे सिद्धान्तों पर रखी जाये और उसकी शक्तियां ऐसी निश्चित की जायें जिनसे उनके संरक्षण और खुशहाली का मार्ग प्रशस्त हो सके।"

परंतु वे यहीं विराम लगा देते हैं। वे उस घोषणा के पूर्व अंश की परवाह

नहीं करते जिसमें कहा गया है –

> "हम समझते हैं कि यह तथ्य स्वयंसिद्ध है कि सभी मनुष्य समान बनाये गये है, नियंता ने उन्हें अविच्छिन्न अधिकार प्रदान किए हैं वे हैं, जीवन, स्वतंत्रता और प्रसन्नता का मार्ग। इन अधिकारों की प्राप्ति हेतु सरकार का गठन होता है जो प्रजा से न्यायसंगत अधिकार प्राप्त करती है।"

इसमें कोई संदेह नहीं कि इस घोषणा–पत्र को लागू करने में अमरीकी इतिहास में एक दुखद घटना घटी है। इस दस्तावेज के बारे में दो विचारधाराएं हैं। कुछ समझते हैं कि यह एक महान आध्यात्मिक अभिलेख है। दूसरों का कहना है कि इसने कई असत्यों को शाश्वत बना दिया है। मानवीय स्वाधीनता का सिद्धांत किसी तरह नीग्रो जन पर लागू नहीं किया गया है। फिर भी यह महत्वपूर्ण बात है कि घोषणा–पत्र में उसे शामिल तो किया गया है। इसमें कोई संदेह नहीं है और निश्चित रूप से इस घोषणा–पत्र के लेखक जेफरसन की आस्था पर भी संदेह नहीं किया जा सकता। वे इस बात को कभी नहीं भूल सके कि एक लम्बे सिद्धांत की घोषणा के बाद उसके पालन पर उनके देश ने कन्नी काट ली। उन्होंने लिखा है : "मुझे अपने देशवासियों के बारे में अफसोस है।" नीग्रो जन को इससे सुकुन नहीं मिलता। परंतु यह भी कुछ कम संतोष की बात नहीं है कि देश की आत्मा बिल्कुल निर्जीव नहीं हुई है और धार्मिक हीनता की भावना एक दिन मिट जाएगी। नीग्रो इसका मरवौल उड़ा सकते हैं। परंतु सच्चाई यह है कि अछूत हिंदुओं से इतनी सी बात की अपेक्षा भी नहीं कर सकते। लोगों को आज इस बात पर गर्व है कि हिंदु एक संगठित समाज है। परंतु भारत के अछूतों को इस बात पर आश्चर्य होता है। यह सुकून के बजाए दर्द है –– क्योंकि नीग्रो लोगों के लिए अमरीका में पूरा दक्षिण एकजुट है। क्या हिंदुओं में कोई ऐसा व्यक्ति मिलता है, जिसमें लज्जा और ग्लानि की ऐसी भावना मौजूद हो जैसी जेफरसन में थी? मैं सोच सकता हूं कि दुनिया के सामने अपनी आजादी की मांग पेश करने से पहले हिंदू अपने ऊपर लगे अस्पृश्यता के कलंक से शर्मिंदा होते। वे आजादी की दुहाई देते हैं –– अफसोस है उन्हें समर्थन मिलता है –– यह इस बात का सबूत है कि उनकी आत्मा मर चुकी है कि वे धार्मिक अनादर का अहसास नहीं करते और उनकी दृष्टि में अस्पृश्यता न तो नैतिक पाप है और न ही सामाजिक अपराध। उनके लिए बस यह क्रिकेट या हाकी का खेल है। श्री गांधी के मित्र निस्संदेह उनसे उनके कार्यों के विषय में पूछेंगे। परंतु श्री गांधी ने हिंदू समाज में सुधार के लिए क्या किया है कि उनके कृतित्व और व्यक्तित्व में लोकतांत्रिक लोगों को आशा और आश्वासन की झलक दिखाई दे? उनके मित्रों को हरिजन सेवक संघ का हवाला दिया जाता है और वे पूछते हैं कि क्या "हरिजन सेवक संघ हरिजन उत्थान का कार्य नहीं कर रहा?" क्या ऐसा

है? हरिजन सेवक संघ का उद्देश्य क्या है? क्या यह अछूतों को इसके लिए तैयार करता है कि वे हिंदू स्वामियों से मुक्ति पाएं और उन्हें सामाजिक और राजनीतिक समानता प्राप्त हो? श्री गांधी के सामने कभी ऐसा लक्ष्य नहीं था, और वे कभी ऐसा करना नहीं चाहते। मैं कहता हू वे ऐसा नही कर सकते। यह काम तो लोकतंत्रवादी और क्रांतिकारी का है। गांधी दोनों में से कुछ नहीं है। वे जन्म से भी और विश्वास से भी अनुदारवादी हैं। हरिजन सेवक संघ का कार्य अछूतों का उत्थान नहीं है। जैसा कि प्रत्येक स्वाभिमानी अछूत जानता है, उनका मुख्य उद्देश्य भारत को हिंदुओं और हिंदुत्व के लिए सुरक्षित रखना है। वे अछूतों की लड़ाई निश्चित रूप से नहीं लड़ रहे। इसके विपरीत हरिजन सेवक संघ के माध्यम से शुद्र अछूतों को शुद्र उपहार बांट कर उन्हें खरीद रहे हैं। उन्हें नाकारा बना रहे हैं। अछूतों के विरोध को अशक्त कर रहे हैं जिसके विषय में वे जानते हैं कि वे जाति प्रथा को पंगु बना देंगे और भारत में वास्तविक लोकतंत्र स्थापित करेंगे। श्री गांधी हिंदुत्व और हिंदुओं को जीवंत रखना चाहते हैं। श्री गांधी अछूतों को हिंदू ही रखना चाहते हैं। पर कैसा? एक सहचर के रूप में नहीं पद–दलितों के रूप में। श्री गांधी अछूतों के प्रति दयालु नहीं हैं, बल्कि प्यार के भुलावों में वे उन्हें और हिंदुओं से अलग तथा स्वतंत्र रहने के उनके आंदोलन को मटियामेट करना चाहते हैं।

हरिजन सेवक संघ उनके उन हथकंड़ों में से एक है, जिससे उनका प्रपंच चल रहा है।

अब श्री जवाहरलाल नेहरु पर आते हैं। वे जेफरसन के घोषणा–पत्र से प्रेरित हैं। परंतु क्या उन्होंने कभी 6 करोड़ अछूतों की स्थिति पर लज्जा अथवा पश्चाताप प्रकट किया? क्या उन्होंने अपने साहित्य में उस पर प्रकाश डाला है? आप चाहें तो भारत के युवाओं को देखिए। विश्वविद्यालयों में भरे छात्र जो पंडित नेहरु का अनुसरण करते हैं, वे सदा अंग्रेजों के विरूद्ध संग्राम में शामिल होने के लिए तैयार रहते हैं। परंतु ऊंचे हिंदू घरानों के इन बच्चों ने अपने पूर्वजों के अछूतों के साथ किए गए दुर्व्यवहार को समाप्त करने के लिए क्या किया है? सैकड़ों हिंदू युवक राजनीतिक प्रोपेगंडा में शामिल होने के लिए मिल जाएंगे, परंतु एक भी ऐसा युवक नहीं मिल सकता, जिसने जाति प्रथा तोड़ने या अस्पृश्यता मिटाने का बीड़ा उठाया हो। हिंदू–मानस के लिए लोकतंत्र और लोकतांत्रिक–समाज, न्याय और आत्मा की आवाज अजीब बातें हैं, जिनसे लोकतांत्रिक सिद्धांत जीवित रहते हैं। ऐसे अनुदार हाथों में लोकतंत्र और स्वतंत्रता सौंपना सब से बड़ी गलती होगी, जो लोकतंत्रवादी कर सकते हैं। हिंदुओं के अमरीकी दोस्तों के लिए श्री गांधी और हिंदुओं से कहना चाहिए कि वे अपने संघर्ष के उद्देश्य घोषित करें, जिससे वे आश्वस्त हो सकें कि अंग्रेजों के विरूद्ध हिंदुओं का संघर्ष वास्तव में

स्वतंत्रता संघर्ष है। कांग्रेस और हिंदू सवाल पूछने वाले विदेशी मित्रों को कांग्रेस के अल्पसंख्यक अधिकार संबंधी प्रस्ताव का हवाला देंगे। परंतु मैं हिंदुओं के अमरीकी मित्रों को चेतावनी देना चाहता हूँ कि वे अल्पसंख्यकों को अधिकार देने संबंधी घोषणा की चकाचौंध पर न जाएं। अल्पसंख्यकों के अधिकारों की घोषणा एक बात है और उन्हें लागू करना दूसरी और हिंदुओं के मित्र यदि वे सचमुच स्वतंत्रता प्रेमी हैं, तो वे सीधे परिपालन पर बल क्यों नंही देते? क्या हिंदु यह नहीं कह रहे कि वे ब्रिटेन से स्वतंत्रता की मात्र घोषणा से संतुष्ट नहीं होंगे? क्या वे तुरंत परिपालन के लिए नहीं कह रहे? यदि वे ब्रिटेन से यह अपेक्षा करते हैं कि वे अपने युद्ध उद्देश्यों को लागू करें तो हिन्दू अपने संघर्ष के उद्देश्य घोषित करने के लिए क्यों तैयार नहीं हैं? मुझे विश्वास है कि हिंदुओं के अमरीकी मित्र हिन्दुओं के इस प्रचार से गुमराह नहीं होंगे कि अंग्रेजों के खिलाफ हिंदुओं का यह संघर्ष स्वतंत्रता संघर्ष है। हिंदुओ की सहायता करने से पहले उन्हें स्वयं को संतुष्ट कर लेना चाहिए कि जो हिन्दू यह आग्रह कर रहे हैं कि अंग्रेजों के खिलाफ उनका संघर्ष स्वतंत्रता के लिए संघर्ष है, वे ही कहीं अछूतों जैसे करोड़ों भारतीयों की स्वतंत्रता के शत्रु न बन जायें। यही दलील मैं भारत के 6 करोड़ अछूतों की ओर से दे रहा हूं और सबसे बड़ी बात यह है कि अमरीकी मित्र कहीं यह न सोच बैठें कि संविधान में संतुलन और नियंत्रण भारत की परिस्थितियों में निगरानी और नियंत्रण की मांग आवश्यक नही है क्योंकि संघर्ष जनसाधारण द्वारा चलाया जा रहा है और यह स्वतंत्रता के लिए है। लोकतंत्र और स्वतंत्रता प्रेमियों को यह नहीं भूलना चाहिए कि जान एडम्स ने क्या कहा है –

> "हमने जितना इतिहास अब तक पढ़ा है, साक्ष्य के लिए उन सबका संदर्भ देना संभव नहीं है कि जब लोगों पर नियंत्रण नहीं रखा गया तो वे अन्यायी, अत्याचारी, उत्पीड़क, पाश्विक और क्रूर बन बैठे जैसे कोई राजा या नियंत्रणहीन सत्ता प्राप्त सीनेट बन जाती है : बहुसंख्यक सदा और बिना अपवाद के अल्पसंख्यकों पर हावी हो गए हैं।"

सभी बहुसंख्यकों पर संतुलन और नियंत्रण रखा जाए, यह हिंदुओं के बारे में कैसे हो सकता है?

परिशिष्ट

के बारे में टिप्पण

'कांग्रेस और गांधी ने अस्पृश्यों के लिए क्या किया' नामक प्रस्तुत खंड इसके 1945 में प्रकाशित प्रथम संस्करण का पुनर्मुद्रित रूप है। डा. अम्बेडकर ने 1946 में इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया था। इसमें महत्वपूर्ण परिवर्धनों और सुधारों के रूप में कतिपय परिवर्तन देखने को मिले हैं। ये परिवर्तन अध्याय 9 में किए गए हैं जिसे इस खंड के साथ परिशिष्ट के रूप में जोड़ा जा रहा है। शेष पाठ में कोई परिवर्तन नहीं है।

परिशिष्ट

नवम् अध्याय

विदेशियों के लिए दलील

दासता का दर्द बर्दाश्त नहीं

I

सारी दुनिया जानती है कि कुछ अपवादों को छोड़ कर अधिकतर सभी विदेशी जो भारत के राजनैतिक मामलों में रूचि लेते हैं वे सभी कांग्रेस के पक्षधर हैं। यह मुश्किल बात है, जिससे देश की अन्य राजनैतिक पार्टियां – जैसे मुस्लिम लीग, जो मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करने का दावा करती है, जस्टिस पार्टी जिसमें अब कोई जान नहीं है, जिसे गैर–ब्राह्मण दल के नाम से भी जाना जाता है और भारतीय परिगणित जाति संघ जो अछूतों का प्रतिनिधित्व करने का दावा करती है, के लिए स्वभावतः पहले से ही परेशानी पैदा हो गई है और वे सभी पार्टियां विदेशियों से समर्थन की अपील करती हैं परंतु विदेशी लोग उनकी अपील सहानुभूति के तौर पर भी सुनने को तैयार नहीं। विदेशी लोग कांग्रेस का समर्थन क्यों करते हैं और अन्य पार्टियों का क्यों नहीं? विदेशियों ने अपने इस व्यवहार के दो कारण गिनाए हैं। कांग्रेस को समर्थन देने का एक कारण यह है कि उनके विचार में भारतीय नागरिकों का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था केवल कांग्रेस है और वही संस्था भारत के नाम पर आवाज उठा रही है, यहां तक कि अछूतों के संदर्भ में भी। क्या उनकी सोच सही है?

यह मानना होगा कि ऐसी धारणा बनने के पीछे कुछ परिस्थितियां मौजूद हैं। पहली और प्रमुख परिस्थिति यह है कि भारतीय प्रेस द्वारा कांग्रेस के पक्ष में प्रोपेगंडा किया जाता है। भारत के समाचार–पत्रों की कांग्रेस से मिलीभगत है। उनका विश्वास है कि कांग्रेस कभी गलती नहीं कर सकती, प्रेस किसी ऐसी सूचना को छापना गंवारा नहीं करती, जो कांग्रेस की प्रतिष्ठा तथा उसकी विचारधारा के विरूद्ध हो। विदेशियों की दृष्टि में केवल प्रेस ही भारत के राजनैतिक मामलों में सूचना का माध्यम है। प्रेस के कोलाहल के कारण इंग्लैंड और अमरीका के लोग मात्र एक बात समझ पाते हैं कि कांग्रेस ही भारत की प्रतिनिधि संस्था है, यहां तक कि अछूतों की भी।

इस प्रोपेगंडा के प्रभाव का कारण यह है कि अछूत इस का जवाब प्रोपेगंडा से नहीं दे सकते। वे कांग्रेसी दावों का जवाब देने के लिए प्रचार नहीं कर सकते। अछूतों की ओर से इसके कई स्पष्टीकरण हैं।

अछूतों का अपना कोई समाचार पत्र नहीं है और कांग्रेस का प्रेस उनके लिए बंद है। उसने अछूतों का रत्तीभर भी प्रचार करने की कसम खा रखी है। अछूत अपना प्रेस स्थापित नहीं कर सकते। कोई भी समाचार पत्र बिना विज्ञापन राशि के नहीं चल सकता। विज्ञापन राशि केवल व्यावसायिक विज्ञापनों से आती है। भारत के छोटे बड़े व्यवसायी कांग्रेस से जुड़े हैं, जो गैर–कांग्रेसी संस्था का पक्ष नहीं ले सकते। भारत में असोसिएटेड प्रेस का स्टाफ, जो भारत की समाचार एजेंसी है, पूर्णतया मद्रासी ब्राह्मणों से भरा पड़ा है। वास्तव में भारत का संपूर्ण प्रेस उन्हीं की मुट्ठी में है और वह पूर्णतया कांग्रेस का पिट्ठू है। सुज्ञात कारणों से वह कांग्रेस का समर्थक है, और कांग्रेस के विरूद्ध किसी समाचार को नहीं छाप सकता। यही साधन हैं जो अछूतों की पहुंच से बाहर हैं।

परंतु यह सच है कि बहुत हद तक स्वयं अछूतों में प्रचार करने की प्रवृत्ति का न होना भी एक कारण है। प्रचार करने की प्रवृत्ति का न होना उनकी देशभक्ति के कारण भी है कि कहीं ऐसा न हो कि कोई बात ऐसी जो जाए, जिससे बाहर देश की प्रतिष्ठा पर आंच आए। भारत की राजनीति के दो भिन्न–भिन्न पहलू हैं जिसका विदेशी राजनीति और संवैधानिक राजनीति के रूप में भेद किया जा सकता है। भारत की विदेशी राजनीति ब्रिटिश साम्राज्य से भारत को आजादी प्राप्त करने के संबंध में है, जबकि संवैधानिक राजनीति आजाद भारत के लिए भावी संविधान से संबंधित है। समीक्षकों के लिए दोनों वास्तव में एक दूसरे से भिन्न हैं। परंतु अछूतों को डर है कि यद्यपि भारतीय राजनीति के दो भिन्न पहलू हैं, जो विदेशी इस विषय में महत्व रखते है और जिन्हें सावधानी से समझाना है, वे इन्हें अलग–अलग दृष्टि से नहीं देख सकते और संवैधानिक नीतियों पर मतभेद रख सकते हैं। इसलिए अछूत कांग्रेसी प्रचार पर चुप्पी साधे हुए हैं। इससे उनके प्रचार का जवाब नहीं मिलता।

दरअसल कांग्रेस यह स्वीकार नहीं करती कि अछूत कांग्रेस द्वारा अपने विरूद्ध किए जा रहे प्रचार पर चुप इसलिए है कि इसके पीछे अछूतों की देशभक्ति की भावना है। सच्चाई यह है कि अछूतों की चुप्पी और चुनौती न देने के कारण ही यह आम धारणा बन गई है कि कांग्रेस अछूतों सहित सब का प्रतिनिधित्व करती है। उपरोक्त स्पष्टीकरण से पता चलता है कि ऐसी परिस्थितियां बन गई हैं जिनसे यह धारणा बनी है कि कांग्रेस ही सबकी प्रतिनिधि है, यहां तक कि अछूतों की भी है।

इस धारणा की पुष्टि 1937 के चुनावों में नहीं हुई कि कांग्रेस सबका प्रतिनिधित्व करती है। उसकी पोल इन चुनावों में खुल गई। यह इस पुस्तक के पिछले भाग में वर्णन किया गया है। सामान्य रूप से और विशेष रूप से भी

कांग्रेस के इस दावे पर कि वह अछूतों का प्रतिनिधित्व करती है, यदि विदेशी ध्यान देंगे, तो उन्हें यह पता चल जाएगा कि प्रोपेगंडा सच्चाई से कितना परे है। कांग्रेस की प्रतिनिधित्व के दावे की परीक्षा नहीं हुई थी, तो विदेशी कह सकते थे कि वे प्रचार से प्रभावित हैं, परंतु 1937 के चुनावों में कांग्रेस की परीक्षा हो गई। उससे चुनाव के जो परिणाम सामने आए उनको देखते हुए आशा की जानी चाहिए कि विदेशी अपनी यह धारणा बदल लेंगे कि कांगेस ही सबका प्रतिनिधित्व करती है, यहां तक कि अछूतों को भी और यह अहसास होगा कि भारत या समाज में कांग्रेस के अतिरिक्त अन्य पार्टियां भी हैं, उनको भी अपनी बात कहने का हक है।

II

विदेशियों का कांग्रेस को समर्थन देने का एक दूसरा कारण है। वह है कांग्रेस की और अन्य दलों की प्रदर्शनात्मक गतिविधियां। उनकी दृष्टि में कांग्रेस सविनय अवज्ञा आंदोलन करके विदेशी सरकार द्वारा बनाए कानून का उल्लंघन करके, करों का भुगतान रूकवा कर अदालतों में गिरफ्तारी देकर, सरकार में असहयोग करने का प्रचार करके, कार्यालयों का बहिष्कार करके तथा देश की आजादी के लिए आत्म–बलिदान एवं त्याग का प्रचार करके ब्रिटिश सरकार से लड़ने में जुटी है। दूसरी ओर, विदेशियों की निगाह में कांग्रेस के अतिरिक्त अन्य पार्टियों की इसमें कोई रूचि नहीं है। वे निष्क्रिय हैं और कांग्रेस स्वतंत्रता–संग्राम में भाग नहीं ले रहीं। इन सबसे विदेशी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि कांग्रेस स्वतंत्रताप्रेमी के रूप में देश की आजादी के लिए लड़ाई लड़ रही है, जबकि अन्य दल उदासीन हैं, चाहे बाधक न भी हों। इसलिए स्वतंत्रता–प्रेमी होने के नाते वे कांग्रेस का समर्थन करते हैं, जो अन्य दलों की अपेक्षा स्वतंत्रता संग्राम में लगी है। यह बिल्कुल स्वाभाविक है। परंतु एक प्रश्न उत्पन्न होता है कांग्रेस के पक्ष में यह बात स्वतंत्रता संघर्ष आंदोलन के सम्मोहन के कारण है। या उनका यह विश्वास है कि यह स्वतंत्रता संघर्ष भारत की जनता को स्वाधीनता दिलाएगा। यदि यह सम्मोहन या क्रांति है, तो मुझे खेद है कि अध्याय 7 में मेरा स्पष्टीकरण कि अछूत कांग्रेस के स्वतंत्र्ता संघर्ष में क्यों शामिल नहीं हुए, विदशियों को वांछित रूप से प्रभावित नहीं कर पाया है। परंतु इस पर मैं उनके साथ विवाद उत्पन्न करना नहीं चाहता। क्योंकि यह बात समझी जा सकती है कि उस अध्याय को पढ़ने के बाद कोई विदेशी कह सकता है कि मैंने यह कारण तो बताया है कि अछूत स्वतंत्रता संघर्ष में शामिल क्यों नहीं हुए किंतु इसका कोई आधार नहीं बताया गया है कि हम उस संस्था का समर्थन क्यों नहीं कर रहे जो स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर रही है।

यदि कांग्रेस के समर्थन का आधार दूसरी स्थिति है, तो यह अलग बात है। तब यह आवश्यक हो जाता है कि उनकी प्रवृत्ति की तार्किकता का निरूपण करें और उन्हें गलती न करने दें।

आमतौर से जो व्यक्ति अपने पत्ते नहीं खोलता और स्पष्ट तथा निश्चित रुख नहीं दिखाता ताकि उसकी ईमानदारी का परिचय मिल सके, जो लोगों का दिल नहीं जीतता और अपनी मंशा पर संदेह रखने वालों से सहयोग नहीं लेता उस पर कोई विश्वास नहीं करेगा। कांग्रेस पर भी यही नियम लागू होना चाहिए परंतु जैसा कि मैंने अध्याय 7 में कहा है, कांग्रेस ने उस लोकतंत्र का स्वरूप अभी स्पष्ट नहीं किया है, जिसे वह भारत में लागू करना चाहती है। यह भी स्पष्ट नहीं किया है कि पराधीन वर्गों की विशेष रूप से उसमें अछूतों की क्या स्थिति होगी। दरअसल अछूतों और अन्य अल्पसंख्यक वर्गों की अनवरत मांग के बावजूद उसने वह प्रारूप पेश नहीं किया है। ऐसी धारणा के अभाव में विदेशियों के बारे में यह विचित्र सा लगता है कि वे इस आधार पर कांग्रेस का समर्थन करें कि वह लोकतंत्र की हामी है।

यह समझने का कोई आधार निश्चित रूप से नहीं है कि कांग्रेस भारत के लोकतंत्र की स्थापना का आयोजन कर रही है। ऐसा निष्कर्ष मात्र इसी बात से नहीं निकल सकता कि कांग्रेस स्वतंत्रता संघर्ष में जुटी है। इससे पूर्व कि वे किसी निष्कर्ष पर पहुंचें उनका कर्तव्य है कि वे एक और प्रश्न पूछें कि कांग्रेस किसकी आजादी के लिए लड़ रही है? अपेक्षाकृत इस प्रश्न के कि क्या कांग्रेस किसी की आजादी के लिए लड़ रही है यह अधिक महत्वपूर्ण है कि कांग्रेस किसी की आजादी के लिए लड़ रही है? यह एक प्रत्यक्ष और आवश्यक प्रश्न है और किसी भी स्वतंत्रता–प्रेमी की यह गलती होगी कि वह सच्चाई जानने पर जोर दिए बिना कांग्रेस का समर्थन करे। परंतु जो विदेशी कांग्रेस के पक्षधर हैं, वे ऐसे प्रश्न उठाने की परवाह नहीं करते। सोचने वाले को भी यह सोचना चाहिए कि वह यह प्रश्न स्वभाविक रूप से उठाए और उस पर जोर भी दे और यदि वह प्रश्न उठाएगा और उस पर जोर देगा तो मुझे विश्वास है कि उसे भरपूर सबूत मिलेंगे कि कांग्रेस लोकतंत्र के लिए कार्य नहीं कर रही है बल्कि प्राचीन हिंदू धर्म की पुनर्स्थापना के लिए काम कर रही है जिसमें वंशानुगत शासक वर्ग हो और वंशानुगत दास।

मेहनतकश जातियों विशेष रूप से अछूतों के हितचिंतन संबंधी विदेशी की प्रवृत्ति एक महत्वपूर्ण बात है और कोई भी पक्ष इसे विलक्षणता मान कर खारिज नहीं कर सकता। अछूतों का प्रतिनिधित्व करने वाले के लिए यह आवश्यक है कि वह इस पर विचार करे और कांग्रेस समर्थक विदेशियों को समझाने की पूरी कोशिश करे कि वह गलत दल का समर्थन कर रहा है।

III

पसंद और नापसंद के सवालों के साथ ही कांग्रेस के प्रति विदेशियों के विचित्र व्यवहार के स्पष्टीकरण से यह मालूम पड़ता है कि स्वतंत्रता, स्वायत्त शासन और लोकतंत्र के बारे में कुछ नीतियां हो सकती हैं, जैसी कि पश्चिमी राजनीतिशास्त्रियों ने बताई हैं और एक औसत विदेशी के लिए वही ढर्रा बन गया है।

विदेशी देश की स्वतंत्रता और देश के लोगों की स्वतंत्रता में भेद नहीं करते। वे यही मान कर चलते हैं कि देश की स्वतंत्रता का अर्थ है देश के लोगों की स्वतंत्रता और यदि किसी देश को स्वतंत्रता मिल जाती है तो देश के लोगों को भी स्वतंत्रता मिल ही जाती है।

राजनैतिक क्षेत्र में पश्चिमी विचारकों द्वारा सिद्धांत प्रतिपादित किए गए हैं कि स्वायत्तशासी सरकार के लिए संवैधानिक नैतिकता आवश्यक है। ग्रोट* इसको प्रवृत्ति मानते हैं : "किसी संवैधानिक स्वरूप का सर्वोच्च सम्मान इसी बात में है कि उसके अधीन कार्यरत कार्यपालकों से आज्ञापालन कराया जाए, यद्यपि उनको एक निश्चित वैधानिक संयम के अंतर्गत स्पष्ट बोलने और कार्य करने की प्रवृत्ति की छूट दी जा सकती है तथापि उनके सार्वजनिक कृत्यों के लिए जन भावनाओं पर संपूर्ण विश्वास के साथ उन पर कड़ी फटकार लगाई जाए और पार्टी कार्यों की कड़वाहट को स्वीकार किया जाए। तब ही संवैधानिक स्वरूप निर्दोष कहा जा सकता है। वह विरोधियों की दृष्टि में और भी अधिक पवित्र होगा।" यदि जनसाधारण में ऐसी आदतें विद्यमान हैं, तब पाश्चात्य राजनैतिक विचारों के अनुसार स्वायत्त शासन एक वास्तविकता हो सकता है और उसके आगे और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। विचारकों का प्रजातंत्र के विषय में विश्वास है कि आदर्श प्रजातंत्र वयस्क मताधिकार की व्यवस्था है और दूसरे उपाय भी सुझाए गए हैं जैसे कि प्रतिनिधियों को वापस बुला लेने का अधिकार, जनमतसंग्रह, और संसद के अल्पकालिक अवधि में चुनाव, कुछ देशों में यह प्रक्रिया जारी है, परंतु अधिकांश देशों में वयस्क मताधिकार तथा बार–बार चुनाव से अधिक कुछ करना आवश्यक नहीं समझा गया, जिससे जनता द्वारा जनता की और जनता के लिए सरकार का सिद्धांत मान लिया गया है।

मुझे यह कहने में कोई हिचक नहीं कि ये दोनों धारणाएं मिथ्या और भ्रामक हैं।

यदि कोई व्यक्ति किसी देश की स्वतंत्रता और उस देश के लोगों की भी स्वतंत्रता के बीच भेद नहीं कर पाता तो वह यदि धोखा नहीं खा जाता है तो

---

* ग्रोट हिस्ट्री आफ ग्रीस खंड–3 पृष्ठ 347

भ्रमित अवश्य हो जाता है, क्योंकि समाज, राष्ट्र और देश ऐसी शब्दावलियां हैं, जो भिन्नार्थक नहीं हैं, तो अनिश्चित अर्थों वाली हैं। यह कहना अनावश्यक है कि राष्ट्र एक शब्द है जिसका अर्थ है कई श्रेणियां। दर्शनशास्त्र के अनुसार राष्ट्र को एक ईकाई माना जा सकता है परंतु समाजशास्त्र की दृष्टि से इसका अर्थ यही है कि वह अनेक श्रेणियों का समूह नहीं हो सकता और किसी राष्ट्र की स्वतंत्रता का यथार्थ अर्थ यही हो सकता है कि वास्तविक स्वतंत्रता उसमें समाहित विभिन्न श्रेणियों की स्वतंत्रता और विशेष रूप से दास वर्ग की स्वतंत्रता से प्राप्त होती है।

किसी देश में संवैधानिक पद्धति की सरकार को बनाए रखने के लिए संवैधानिक नैतिकता आवश्यक होनी चाहिए। परंतु संवैधानिक सरकार का चलना लोगों द्वारा चुनी गई स्वशासी सरकार के समान ही नहीं होता। साथ ही यह भी माना जा सकता है कि वयस्क मताधिकार से बनी सरकार कहने को तो राजतंत्र से भिन्न लोगों की सरकार हो सकती है, परंतु इसी से यह लोकतांत्रिक सरकार नहीं हो जाती जिससे इसे लोगों द्वारा और लोगों के लिए सरकार कहा जा सके।

जिसे पश्चिमी यूरोप की संसदीय लोकतंत्र की त्रासदी का पता है उसे लोकतंत्र के दिवा स्वप्नों के और साक्ष्य देने की आवश्यकता नहीं होगी।* मैंने पहले भी एक स्थान पर जो कहा था उसके अनुसार पश्चिमी यूरोप में लोकतंत्र की विफलता का कारण निम्नांकित शब्दों में निरूपित किया जा सकता है:–

> "मानव समाज में सरकारों में बहुत महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। एक समय था, जब सरकार स्वेच्छाचारी सम्राटों का निरंकुश स्वरूप हुआ करती थी। फिर लंबे समय तक हुए रक्तपात के बाद सरकार की नई पद्धति आई जो संसदीय लोकतंत्र कहलाया। तब यह समझा गया कि सरकार के स्वरूप की यह चरम परिणति है। तब यह विश्वास था कि इससे एक स्वर्ण युग आ जाएगा, जिसमें प्रत्येक मानव को समानता, संपत्ति और खुशहाली की स्वतंत्रता मिलेगी। ऐसी उच्चाकांक्षाओं का अच्छा आधार था। संसदीय लोकतंत्र में जनता की अभिव्यक्ति के लिए विधायिका होती है। विधायिका के अधीन कार्यपालिका होती है और दोनों पर नियंत्रण रखने तथा निर्धारित सीमाओं में रखने के लिए न्यायपालिका होती है। संसदीय लोकतंत्र में लोकप्रियता के सभी लक्षण होते हैं अर्थात लोगों की लोगों द्वारा लोगों के लिए सरकार। परंतु

---

*. 17 सितंबर 1943 को नई दिल्ली में आल इंडिया ट्रेड यूनियन वर्कर्स स्टडी कैंप में पढ़ा गया प्रबंध लेख – लेबर एंड पार्लियामेंट्री डेमोक्रेसी।

यह आश्चर्य की बात है कि संसदीय लोकतंत्र के विरूद्ध भी विद्रोह हुए हालांकि एक सौ साल भी नहीं हुए हैं जब इसका उदय हुआ और इसे पूरे विश्व में स्वीकार और अंगीकार कर लिया गया। अब इसके विरूद्ध इटली, जर्मनी, रूस और स्पेन में विद्रोह हुए। कुछ ही ऐसे देश हैं जहां संसदीय लोकतंत्र के विरूद्ध असंतोष नहीं है। संसदीय लोकतंत्र के विरूद्ध असंतोष क्यों पनपा? यह एक विचारणीय प्रश्न है। ऐसा कोई अन्य देश नहीं है जहां इस प्रश्न पर भारत के समान तत्परता से विचार किया जाना चाहिए। भारत में संसदीय लोकतंत्र की बात चल रही है। यहां किसी ऐसे साहसी व्यक्ति की अत्यंत आवश्यकता है, जो भारतीयों को बता सके, "संसदीय लोकतंत्र से सावधान रहो। यह इतनी श्रेष्ठ व्यवस्था नहीं है, जैसी दिखाई देती है।"

संसदीय लोकतंत्र क्यों विफल हुआ? तानाशाहों के देशों में यह इसलिए विफल हुआ कि इसकी गति बहुत धीमी है। इसमें सहज क्रिया का विलंब होता है। किसी संसदीय लोकतंत्र में विधायिका द्वारा कार्यपालिका के कार्यों में बाधा डाली जा सकती है, जो कार्यपालिका द्वारा प्रस्तावित कानूनों को पास करने से इंकार कर सकती है और यदि विधायिका द्वारा बाधा न डाली जाए, तो न्यायपालिका बाधा डाल सकती है, जो कानून को अवैध घोषित कर सकती है। संसदीय लोकतंत्र में तानाशाही की छूट नहीं होती। इसीलिए इटली, स्पेन और जर्मनी में इसकी साख जाती रही। इन देशों ने तानाशाही का स्वागत किया। यदि अकेले तानाशाह ही संसदीय लोकतंत्र के विरूद्ध होते तो कोई बात नहीं थी। संसदीय लोकतंत्र के विरूद्ध घोषणा का स्वागत इस कारण किया जाएगा, क्योंकि यह तानाशाही पर लगाम का काम करेगी। परंतु दुर्भाग्य से उन देशों तक में संसदीय लोकतंत्र के विरूद्ध काफी असंतोष है जहां के लोग तानाशाही के विरूद्ध हैं। संसदीय लोकतंत्र के विषय में यह अत्यधिक खेदजनक है। यह बहुत ही खेदजनक है क्योंकि संसदीय लोकतंत्र एक बिंदु पर टिका नहीं रहा। यह तीन दिशाओं में बढ़ा। समान मताधिकार के रूप में यह राजनीतिक अधिकारों में समानता लाया। बहुत कम ऐसे देश हैं, जहां संसदीय लोकतंत्र है औरा वयस्क मताधिकार नहीं है। उसने सामाजिक समता और आर्थिक अवसरों को राजनीतिक अधिकारों में समता की धारणा का विस्तार किया। यह माना जाता है कि जो संगठन समय के प्रतिकूल हैं वे सरकार को विवश नहीं कर सकते। इसलिए जो देश लोकतंत्र के पक्षधर हैं वहां भी संसदीय लोकतंत्र के विरूद्ध गहरा

असंतोष है। तानाशाही वाले देशों के मुकाबले वहां स्वाभाविक रूप से असंतोष के कारण भिन्न हैं। इस समय विस्तार से नहीं लिखा जा सकता परंतु मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि संसदीय लोकतंत्र के विरूद्ध असंतोष का कारण यह अहसास हो जाना है कि यह जनसाधारण को स्वतंत्रता का अधिकार, संपत्ति और खुशहाली का अधिकार दिलाने में विफल रहा। इस विफलता का कारण या तो गलत विचारधारा हो सकता है या गलत संगठन अथवा दोनों ही।

दोषमुक्त विचारधाराएं जो संसदीय लोकतंत्र की विफलता के लिए जिम्मेदार हैं, उनके विषय में मुझे संदेह नहीं कि उनमें से एक है समझौते या संविदा की आजादी। यह विचारधारा एक रूढ़ि बन गई और इसे स्वतंत्रता के नाम पर जकड़कर रखा गया। संसदीय लोकतंत्र में आर्थिक विषमताओं पर ध्यान नहीं दिया जाता और इसकी परवाह नहीं की जाती कि संविदा पक्षों के बीच संविदा स्वतंत्रता के परिणामों पर इसके बावजूद विचार नहीं किया जाता कि संविदा पक्ष मोलतौल करने की बराबर की स्थिति में नहीं होते। इस व्यवस्था में यह गलत नहीं माना जाता कि संविदा की स्वतंत्रता के नाम पर प्रबल पक्ष निर्बल को दबा बैठे। इसका परिणाम यह है कि संसदीय लोकतंत्र स्वतंत्रता की प्रचारक बन कर एक तरफ खड़ी हो जाती है और गरीबों दलितों और वंशानुगत दीन–हीन वर्ग पर आर्थिक ज्यादतियां होती हैं।

संसदीय लोकतंत्र दूषित करने वाली दूसरी गलत विचारधारा है, जिसमें आभास नहीं होता कि जब तक आर्थिक सामाजिक लोकतंत्र नहीं होता, तब तक राजनीतिक लोकतंत्र सफल नहीं हो सकता। कोई व्यक्ति इस सिद्धांत को चुनौती दे सकता है, जो इसे चुनौती देने पर आमादा हों मैं उनसे एक प्रति प्रश्न करुंगा। इटली, जर्मनी और रूस में संसदीय लोकतंत्र आसानी से क्यों विफल हो गया? इंगलैंड और अमरीका में वह यूं ही क्यों विफल न हो गया? मेरे हिसाब से इसका एक ही कारण है। वह यह है कि दोनों देशों में पूर्वोक्त देशों की अपेक्षा अधिक आर्थिक और सामाजिक लोकतंत्र है। सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र राजनीतिक लोकतंत्र का तानाबाना है। जितना ही मजबूत यह तानाबाना होगा उतनी दृढ़ता उसमें होगी। समानता लोकतंत्र का दूसरा नाम है। संसदीय लोकतंत्र में स्वतंत्रता की लालसा उत्पन्न होती है। इसका समानता से कोई रिश्ता ही नहीं होता। यह समानता का महत्व समझने में विफल रही और समानता तथा स्वतंत्रता के बीच संतुलन स्थापित करने का इसमें प्रयत्न ही नहीं किया जाता।

परिणाम यह निकलता है कि स्वतंत्रता समानता को निगल जाती है और लोकतंत्र एक मजाक बन कर रह जाता है।

मैंने कुछ गलत विचारधाराओं का जिक्र किया है, जो मेरे विचार से संसदीय लोकतंत्र की विफलता का कारण हैं। परंतु मुझे यह भी विश्वास है कि गलत विचारधारा की अपेक्षा गलत संगठन संसदीय लोकतंत्र की विफलता के लिए अधिक जिम्मेदार है। सारे राजनीतिक संगठन दो वर्गों में बंट जाते हैं – शासक और शासित। यह दुर्भाग्य है। यदि इतना ही दोष होता तो भी अधिक बुराई नहीं थी। परंतु इस विभाजन का दुखद पक्ष यह है कि विभाजन एक ढर्रा और नियति बन जाती है कि शासक जातियां सदा शासक ही बनी रहती हैं और शासित जातियां कभी शासक नहीं बन सकतीं। यह इसलिए होता है कि लोग यह परवाह ही नहीं करते कि वे अपना शासन आप चलाएं। वे इसी बात से संतुष्ट हो जाते हैं कि एक सरकार बना दें और वह उन पर राज करती रहे। इससे स्पष्ट होता है कि संसदीय लोकतंत्र कभी लोगों की सरकार या लोगों द्वारा बनाई गई सरकार नहीं रही और वास्तव में यह वंशानुगत प्रजा और वंशानुगत शासकों की सरकार रही है। राजनीति का यह वह विषैला संगठन है, जिसने संसदीय लोकतंत्र को दयनीय रूप से विफल कर दिया है। यही कारण है कि संसदीय लोकतंत्र जनसामान्य की आकांक्षाएं पूरी नहीं कर सका और उन्हें स्वतंत्रता, संपत्ति और प्रसन्नता नही दे सका।"

यदि लोकतंत्र की विफलता के कारणों का यह विश्लेषण सही है तो लोकतंत्र के हिमायतियों के लिए यह एक चुनौती है। कुछ मूलभूत बातें हैं, जो लोकतंत्र की जड़ें हैं, जिसकी वे अनदेखी नहीं कर सकते। बात को और स्पष्ट करने के लिए यह बातें क्रमवार रखनी होंगी।

पहले तो हमें यह ऐतिहासिक सत्य स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रत्येक देश में दो वर्ग होते हैं – शासक और दास वर्ग, जिनके बीच बराबर सत्ता संघर्ष रहता है। दूसरी बात यह है कि अपनी सत्ता और प्रतिष्ठा के बल पर शासित वर्ग पर अपना प्रभुत्व जमाना उनके लिए आसान काम है। तीसरी बात यह है कि वयस्क मताधिकार और चुनावों की प्रवृत्ति के बावजूद शासक वर्ग के सामने सत्ता प्राप्त करने में कोई अवरोध नहीं आता। चौथी बात यह है कि शासित वर्ग के लोग अपनी हीन भावना के कारण शासक वर्ग को अपना स्वाभाविक नेता मानते हैं ओर दास वर्ग उन्हें स्वेच्छा से शासक चुन लेता है। पांचवी बात यह है कि लोकतंत्र में स्वायत्त शासन में आस्था न रखने वाले शासक वर्ग की मौजूदगी के कारण और इस तथ्य के संदर्भ में कि जहां शासक वर्ग सत्ता की डोर को

थामे रहता है, वहां यह सोचना ही गलत है कि लोकतंत्र और स्वशासन समाज का वास्तव में अंग बन गए हैं। छठी बात यह है कि लोकतंत्र और स्वशासन तभी यथार्थ रूप ग्रहण नहीं कर सकते हैं जब वयस्क मताधिकार लागू हो जाए बल्कि ये तभी साकार बन सकते हैं जब शासक वर्ग की वह क्षमताएं ही समाप्त हो जाएं जिनके बल पर वह सत्ता प्राप्त करता है। सातवां तथ्य है कुछ देशों में शासित वर्ग शासक वर्ग को वयस्क मताधिकार से सत्ताच्युत करने में सफल हो जाता है। कुछ दूसरे देशों में शासक वर्ग की जड़ें इतनी गहरी होती हैं कि शासित वर्ग को इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वयस्क मताधिकार के साथ कुछ अन्य संरक्षणों की भी आवश्यकता होती है।

चूंकि इन विचारों का प्रतिपादन करना अत्यंत महत्वपूर्ण है, इसलिए हर स्वतंत्रताप्रेमी के सामने उन्हें प्रमुखता से रखना आवश्यक है, ताकि वह इनको देख सके और समझ सके। इनसे उसे इतनी सहायता मिलेगी जितनी किसी अन्य बात से नहीं मिल सकती। इसी से उसे अहसास होगा कि लोकतंत्र के लिए संविधान की रचना के समय वह याद रखे कि ऐसे संविधान का मुख्य उद्देश्य शासक जातियों को सत्ता का स्थाई भोगी न बनने देना है जिससे कि लोकतांत्रिक सरकार की स्थापना की प्रक्रिया हठधर्मिता बन कर रह जाए। शासक जातियों को सत्ता से बाहर रखना मुख्य उद्देश्य है। लोकतांत्रिक सरकार की प्रक्रिया स्थापना की समरूप न रहे कि लोकतंत्र की प्रक्रिया को न केवल सहन किया जाए बल्कि उसे स्वीकार किया जाए क्योंकि वह प्रक्रिया ही है, जिसके बल पर शासक वर्ग शासित वर्ग पर सर्वत्र अपना वर्चस्व बनाए रखता है।

यही लोकतंत्र है, परंतु राजनीति पर जिन पश्चिमी लेखकों से विदेशी प्रभावित होते हैं, वे राजनीति के इस यथार्थ रूप को समझने में असफल रहे हैं। इसके बजाए वे इसके सैद्धांतिक या किताबी तथा ऊपरी बातों से ही प्रभावित हैं, जो संवैधानिक नैतिकता, वयस्क मताधिकार तथा चुनावों की आवृति को ही सब कुछ समझते हैं।

जो इस विचार को मानते हैं कि लोकतंत्र इन तीनों बातों को छोड़ कर और कुछ नहीं है या वह इनसे भिन्न नहीं है वे शासक वर्ग के ही विचारों को प्रकट करते हैं। शासक वर्ग अनुभवों से जानता हैं कि इस प्रकार की व्यवस्था इनकी सत्ता और स्थिति के लिए घातक साबित नहीं हुई है। दरअसल उन्होंने अपने अधिकारों और प्रतिष्ठा को कानूनी गुणों का लबादा ओढ़ा लिया है और शासित वर्ग के प्रहार के सामने अपनी निर्बलता का असर कम कर दिया है।

जो यह चाहते हैं कि लोकतंत्र और स्वशासन स्वतः स्वाभाविक रूप से प्राप्त हों और वे केवल सैद्धांतिक न हों तो उनके लिए बेहतर यह है कि वे इस बात

को भली भांति समझ लें कि स्थायी शासक वर्ग की मौजूदगी लोकतंत्र के लिए सबसे बड़ा खतरा है। लोकतंत्र को अपनाने के लिए ऐसी ही नीति अपनानी होगी। कोई निष्कर्ष निकालने से पूर्व उन वर्गों की मौजूदगी को भुला देना एक घातक भूल होगी और देखना होगा कि क्या किसी स्वतंत्र देश में स्वतंत्रता किसी विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग के ही हिस्से में आएगी अथवा वह सभी को नसीब होगी। मेरे विचार से जो विदेशी कांग्रेस का पक्ष लेना पसंद करते हैं, उन्हें यह नहीं पूछना चाहिए कि क्या कांग्रेस स्वतंत्रता के लिए लड़ रही है? उसे पूछना चाहिए कि कांग्रेस किस स्वतंत्रता के लिए लड़ रही है? क्या वह भारत की शासक जातियों के लिए लड़ रही है या भारत की जनता के लिए लड़ा रही है? यदि उसे पता चलता है कि कांग्रेस शासक जातियों के लिए लड़ रही है तो उसे कांग्रेस से पूछना चाहिए कि क्या भारत की शासक जातियां राज करने के लिए उपयुक्त पात्र हैं? कांग्रेस का पक्ष लेने से पूर्व उसे कम से कम इतना तो करना ही चाहिए।

इन प्रश्नों का कांग्रेस क्या उत्तर देगी? मुझे पता नहीं है। परंतु मैं इन सवालों का सही उत्तर दे सकता हूँ।

IV

मैं नहीं कह सकता कि इस अध्याय के तीसरे भाग में जो लिखा गया है उससे विदेशी प्रभावित होंगे अथवा नहीं। यदि वह उससे प्रभावित होते हैं तो वे निस्संदेह इस बात के सबूत मांगेंगे कि कांग्रेस देश की आजादी की लड़ाई लड़ कर देश में लोकतंत्र की स्थापना के लिए संघर्ष नहीं कर रही है, बल्कि प्राचीन हिंदू राजनीति की पुनर्स्थापना की तैयारी कर रही है, जिससे वंशानुगत शासक जातियां शासित वर्ग पर राज कर सकें। मुझे यह पता नहीं कि विदेशी साक्ष्य से संतुष्ट होंगे या नहीं। परंतु मैं इसे उनके समक्ष रखने के लिए तैयार हूं।

भारत में शासक जातियां कौन हैं? भारतीयों के लिए यह प्रश्न आवश्यक नहीं है, परंतु विदेशियों के लिए प्राथमिक और अनिवार्य है। इसलिए इस पर विचार किया जाना चाहिए। भारत में शासक जातियां मुख्यतया ब्राह्मण हैं। आश्चर्य की बात है कि आज के ब्राह्मण इस कथन का खंडन करते हैं कि वे शासक जातियों से संबंधित हैं यद्यपि वे किसी समय अपने को भूदेव कहते थे। उन्होंने यह पलटी क्यों खाई? प्रत्येक समुदाय में बौद्धिक वर्ग को उसकी आचार संहिता द्वारा एक पावन कर्तव्य सौंपा जाता है, अर्थात् समुदाय का हित रक्षण। यह नहीं कि अपने हितों के लिए वे उसी कर्तव्य की बलि चढ़ा दें। संसार में किसी आध्यात्मिक वर्ग ने इतना विश्वासघात नहीं किया जितना भारत में ब्राह्मणों ने किया है। यह सोचना होगा कि उन्होंने अपराधबोध से तो यह पलटी नहीं खाई है क्योंकि उन्होंने

यह सोचा होगा कि हमने जो विश्वासघात किया उससे वे दुनिया में किसी को मुंह दिखाने लायक नहीं रहे। या यह उनका विनम्र भाव है? अब यह देखा जाए कि इनमें से सच क्या है? ब्राह्मण ही शासक जातियां हैं, इस पर प्रश्न चिन्ह नहीं लगाया जा सकता। जरूरी हो तो दो प्रकार से इसकी परीक्षा की जा सकती है। प्रथम परीक्षा लोगों की इनके प्रति भावना की और दूसरी प्रशासन में इनकी भागीदारी की। जहां तक पहले परीक्षण की बात है अर्थात् लोगों की ब्राह्मण वर्ग के प्रति भावना का सवाल है उसमें कोई संदेह नहीं किया जा सकता। सर्वसाधारण की भावना के अनुसार चाहे वह ऊंचा हो या नीचा सबके लिए ब्राह्मण पवित्र है। वह अत्यधिक धर्मात्मा है, जिसके आगे सब नतमस्तक होते हैं। पूर्व ब्रिटिश काल में उसे दंड से मुक्ति मिली हुई थी, जो निम्न वर्ग को प्राप्त नहीं थी। प्राचीन काल में ब्राह्मण चाहे हत्या जितना जघन्य अपराध करे, उसे मृत्यु दंड नहीं दिया जा सकता था। उसे पवित्र मनुष्य मान कर ही सभी प्रकार की सुविधाएं प्राप्त थीं।

एक समय ऐसा था जब शासित वर्ग का कोई मनुष्य उस पानी को पिए बिना भोजन नहीं कर सकता था, जिस पानी से ब्राह्मण के पैर का अंगूठा न धोया गया हो। सर पी.सी.रे ने अपने बचपन की बात लिखी है कि कलकत्ता की सड़कों पर प्रातः काल शासित जातियों के बच्चे पात्रों में पानी लिए ब्राह्मण के पैर धोने के लिए घंटों प्रतीक्षा किया करते थे। वे पैर धोकर यह पानी अपने माता पिता को देते थे, जो भोजन के लिए उनकी प्रतीक्षा करते रहते थे। ब्राह्मण प्रथम फल प्राप्त करने का सही अधिकारी था। मालाबार में जहां संबंधम् विवाह प्रथा प्रचलित थी वहां शासित जातियां जैसे नायर अपनी कन्याओं को ब्राह्मण द्वारा रखैल बनाए जाने को अपनी इज्जत समझते थे। यहां तक कि राजा भी अपनी रानियों का शील भंग करने के लिए ब्राह्मण को निमंत्रण देते थे।*

ब्रिटिश शासन के कारण और कानून के समक्ष समानता के कारण ब्राह्मणों के विशेषाधिकार और दंडित न किए जा सकने की सुविधाएं छिन गईं। फिर भी निम्न वर्ग उसे पवित्र मानते हैं। आज भी वे उसे "स्वामी" कह कर पुकारते हैं, जिसका अर्थ है भगवान।

---

*. यात्री श्री लुडोविको डि वरथेमा जो 16वीं शताब्दी के मध्य में भारत आया था मालाबार के विषय में लिखता है "यह जानकर अच्छा लगा कि ये ब्राह्मण कैसे हैं? यह आपको ज्ञात होना चाहिए कि हमारे पुजारियों की तरह ब्राह्मण भी धर्म के मुखिया हैं और जब कोई राजा अपनी पत्नी व्याह कर लाता है तो वह पहले ब्राह्मणों में से एक सुयोग्य और प्रतिष्ठित ब्राह्मण को अपनी नव-विवाहिता पत्नी के साथ पहली रात में सोने के लिए चुनता है, इसलिए कि ब्राह्मण उस विवाहिता रानी का शील हरण करे। यह न समझे कि ब्राह्मण ऐसा करने के लिए इच्छापूर्वक जाते हैं। इसके लिए राजा उस ब्राह्मण को 400-500 स्वर्ण मुद्राएं देता है। कालीकट में राजाओं के अतिरिक्त और किसी में भी ऐसी प्रथा नहीं है। वायज आफ वरेथेमा (क्युयात सोसायटी खंड I, पृष्ठ 141)

दूसरे परीक्षण से भी ऐसा ही निष्कर्ष निकलता है। उदाहरण के लिए मद्रास प्रेसीडेंसी को लीजिए। अगले पृष्ठ पर तालिका संख्या 1 का अवलोकन कर विचार करें। उससे स्पष्ट है कि वर्ष 1943 में राजपत्रित पद ब्राह्मणों तथा अन्य समुदायों में किस प्रकार बांटे गए थे।

इसी प्रकार के आंकड़े इस कथन की पुष्टि में अन्य प्रांतों से भी प्रमाण के तौर पर दिए जा सकते हैं। परंतु उसके लिए परिश्रम करने की कोई आवश्यकता नहीं। ब्राह्मण अपने आपको शासक जाति का सदस्य होने का दावा करते हैं या नहीं, वास्तविकता यह है कि प्रशासन पर उन्हीं का नियंत्रण है और शासित जातियां उनके ब्राह्मणत्व को स्वीकारती है। यह प्रमाण काफी है।

दरअसल यह संभव नहीं कि ब्राह्मण किसी अन्य वर्ग को अपने साथ जोड़े बिना अपनी शासकीय श्रेष्ठता का पद बनाता क्योंकि उनकी जनसंख्या बहुत कम है।

इतिहास से स्पष्ट है कि ब्राह्मण सदैव उन्हीं दूसरे वर्गो को अपने से सम्बद्ध करते रहे हैं जिन्हें वे शासक जातियों के समान स्तर देने को तैयार होते थे।

दूसरे यात्री ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि यह प्रथा काफी व्यापक थी। ईस्ट इंडीज पर अपने विवरण में हेमिल्टन लिखता है :– जब राजा नव–विवाहिता पत्नी लाता है तो अपनी पत्नी के साथ तब तक सहवास नहीं कर सकता जब तक कि नम्बूदरी अथवा धर्म प्रमुख ब्राह्मण उसके साथ सहवास न कर ले और यदि वह ब्राह्मण चाहे, तो उसके साथ तीन रातें और सहवास कर सकता है, क्योंकि उस विवाहिता पत्नी के वैवाहिक संस्कार का पहला प्रसाद इस पवित्र देवता (ब्राह्मण) को भेंट किया जाना चाहिए जिसकी वह पूजा करती है और उसे कुछ सामंत भी ऐसे होते हैं जो नम्बूदरी को यह प्रसाद चखाते हैं परंतु जनसाधारण को यह विशेष अधिकार नहीं है बल्कि पुरोहित के बजाए खुद यह प्रसाद चखते हैं।"

– खंड I पृष्ठ 308

बुचनान ने अपने यात्रा वृत्त में लिखा है कि तामरी परिवार की पत्नियों को सामान्यतया नम्बूदरी ब्राह्मणों द्वारा गर्भधारण कराया जाता था। यदि वे चाहें तो नायर लोगों से भी करा सकती हैं परंतु नम्बूदरी ब्राह्मण से गर्भित होना पवित्र कार्य समझती हैं।

– पिकरटने वायज खंड VIII पृष्ठ 734

मि.सी.ए.अन्नेस.आई.सी.एस. जी मालाबार और अंग्रेजों के गजेटियर के संपादक थे उन्होंने मद्रास सरकार के अधिकारी की हैसियत से लिखा है :–

"मरूक्काटायम प्रथा को पालने की प्रथा अधिकारी वर्गो में प्रचलित है जो मलयाली विवाह पद्धति में प्रचलित अजीबोगरीब प्रथा है। उस प्रथा का सार यह है कि लड़की को उसके गले में रजस्वला होने की आयु से पहले सोने अथवा अन्य धातु की बनी हुई ताली (लाकेट) बांध दी जाती थी। ताली उसकी अथवा उससे ऊंची जाति का व्यक्ति बांधता था। वह उससे संबंध स्थापित कर सकती थी। सामान्यतया यही होता था कि ताली बांधने वाला उसका दूल्हा बनता था और वही उससे सहवास करने का अधिकारी था और यह कृत्य भूदेव करते थे। इससे निचले स्तर के लोगों का ऐसा विवाह संपादन क्षत्रिय अथवा शासक जातियों के लोग करते थे तथा अपने से निम्न जाति की स्त्री का प्रथम फल प्राप्त करते थे।"

– खंड, I पृष्ठ 101

तालिका संख्या 1 (मद्रास प्रेसीडेंसी)

जातियां	अनुमानित जनसंख्या लाखों में	जनसंख्या का प्रतिशत	संम्पूर्ण राजपत्रित पदों (2200) में से प्राप्त संख्या	की गई नियुक्तियों का अनुपात	अराजपत्रित पद			
					सौ रुपये से अधिक वाले कुल पद 7500		35 रु. से अधिक वाले पद 20782	
					नियुक्त पदों की संख्या	नियुक्त किये गये पदों का प्रतिशत	नियुक्त पदों की संख्या	नियुक्त किये गये पदों का प्रतिशत
1	2	3	4	5	6	7	8	9
ब्राह्मण	15	3	820	37	3280	43.73	8812	42.4
ईसाई	20	4	190	9	750	10	1655	8.0
मुसलमान	37	7	150	7	497	6.63	1624	7.8
गैर ब्राह्मण: दलित वर्ग	70	14	25	1.5	39	0.52	144	0.69
गैर ब्राह्मण: आगे बढ़े गैर–ब्राह्मण	113	22	620	27	2543	33.9	8440	40.6
गैर ब्राह्मण: पिछड़ा वर्ग	245	50	50	2				
एशिया के बाहर के एग्लोइंडियन	–	–	–	–	372	5.0	83	0.4
अन्य जातियां	–	–	–	–	19	0.5	24	0.11

वह इस शर्त पर कि वे शासक जातियां उनके अधीन होकर उन्हें सहयोग देने को तैयार हों। प्राचीन काल तथा मध्य काल में ब्राह्मणों ने क्षत्रियों अथवा सैनिक वर्ग से ऐसा संबंध जोड़ा और दोनों ने शासन किया। वास्तव में उन्होंने जनता को कुचल डाला – ब्राह्मणों ने अपनी कलम से और क्षत्रियों ने अपनी तलवार से। इस समय ब्राह्मण ने वणिक वर्ग को अपने साथ जोड़ लिया है, जिसे बनिया कहते हैं। क्षत्रियों से नाता तोड़ कर बनियों से संबंध जोड़ना स्वाभाविक है। आज के व्यापारिक युग में शस्त्र की अपेक्षा धन महत्वपूर्ण है। इस प्रकार नया नाता जोड़ने का यही मुख्य कारण है। दूसरा कारण यह है कि राजनैतिक मशीनरी को गतिमान रखने के लिए धन की आवश्यकता है। धन केवल बनियों से मिल सकता है। यह केवल बनिया वर्ग ही है जो श्री गांधी के बनिया होने के कारण कांग्रेस को धन देता है। उस बनिया वर्ग को यह भी मालूम है कि राजनैतिक क्षेत्र में पैसा लगाने से उन्हें काफी लाभ मिलेगा। जिन लोगों को इसमें काफी संदेह हो वे पढ़ें कि 6 जून 1942 को श्री लुई फिशर से श्री गांधी की हुई वार्ता क्या थी।* वे श्री फिशर की 'गांधी के साथ एक सप्ताह' नामक पुस्तक के निम्न पैरा को पढ़ कर अपने संदेह को दूर कर सकते हैं :–

> "मैंने कहा कि कांग्रेस पार्टी के विषय में मुझे श्री गांधी से कई प्रश्न पूछने थे। मुझे उच्च पदाधिकारी अंग्रेजों ने बतलाया था कि कांग्रेस धनी वर्ग के हाथों में खेल रही है, और बम्बई के उन करोड़पतियों का समर्थन श्री गांधी को प्राप्त है, जो मनचाहा धन उन्हें देते हैं। मैंने उनसे पूछा 'यह कहां तक सत्य है?' उन्होंने साधारण ढंग से कहा – 'दुर्भाग्यवश वे सही कहते हैं। कांग्रेस के पास अपना कार्य सुचारू रूप से चलाने के लिए पर्याप्त धन नहीं है। हमने आरंभ में सोचा था कि प्रत्येक कांग्रेसी सदस्य से चार आना वार्षिक चंदा एकत्र करेंगे और उससे अपना काम चलायेंगे। परंतु उससे काम नहीं चला।' मैंने उनसे पूछा कि कांग्रेस बजट का कितना अनुपात अमीर भारतीयों द्वारा दिया जाता है? उन्होंने उत्तर दिया – 'संपूर्ण बजट उदाहरणार्थ इस आश्रम में जितना हम खर्च करते हैं, उनसे कम धनराशि में हम गरीबी के साथ गुजर कर सकते थे। परंतु हम ऐसा नहीं करते और खर्च के लिए सारा धन हमारे धनवान मित्रों से मिलता है।"

यही कारण है कि शासक जातियों की स्थिति से बनिया वर्ग को निकालना ब्राह्मण के लिए असंभव बात है। वास्तव में ब्राह्मणों ने बनिया वर्ग से केवल काम चलाऊ नहीं बल्कि गहरा संबंध जोड़ रखा है। परिणाम यह है कि आजकल भारत में शासक जातियां ब्राह्मण–क्षत्रिय के बजाए ब्राह्मण–बनिया हैं।

---

*. ए वीक विद गांधी (1943) पृष्ठ 4।

भारत में शासक जातियां कौन है इस विषय में काफी कुछ कहा जा चुका है। अगला प्रश्न यह है कि 1937 के प्रांतीय विधान सभाओं के चुनाव में शासक जातियों की क्या उपलब्धियां रहीं।

1937 के चुनावों का आधार ऐसा मताधिकार था, जो न तो सार्वभौमिक था और न ही वयस्क मताधिकार। फिर भी उससे उन वर्गों को भी मताधिकार मिला, जो शासक जातियों में नहीं आते। यह निश्चित रूप से उनसे तो अधिक व्यापक था, जैसा 1937 तक प्रचलित मतदान अधिकार था। ऐसे मताधिकार पर आधारित चुनाव यह जानने के लिए अच्छा मापदण्ड है कि शासक जातियों की कितनी-कितनी उपलब्धियां थीं।

दुर्भाग्य से भारत के किसी प्रकाशक ने डोडस पार्लियामेंटरी मैनुअल जैसा संस्करण नहीं छापा है। परिणामस्वरूप कांग्रेस से टिकट पर चुने गए विधायकों की जाति, व्यवसाय, शिक्षा और सामाजिक स्तर के बारे में विवरण उपलब्ध नहीं है। यह विषय इतना महत्वपूर्ण है कि 1937 में चुने गए प्रांतीय विधानमंडलों के सदस्यों पर मैंने इन बिंदुओं पर आवश्यक सूचना एकत्र करने पर विचार किया। मैं प्रत्येक सदस्य के विषय में संक्षिप्त सूचना प्राप्त करने में सफल हो गया हूं। बहुत से ऐसे हैं, जिन्हें मैंने अनावश्यक जान कर छोड़ दिया है। परंतु मुझे विश्वास है कि जो सूचनाएं मैंने एकत्र की है, उनसे कुछ निश्चित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिए कि 1937 के चुनावों में शासक जातियों को कितनी सफलताएं मिलीं, तालिका संख्या 2* देखनी होगी जिसमें ब्राह्मण का बनियों (जमींदार और महाजन) और गैर-शासक जातियों का अनुसूचित जातियों से अनुपात दर्शाया गया है, जो कांग्रेस के टिकट पर प्रांतीय विधानमंडलों के लिए चुने गए थे।

जिन्हें इस बात का ज्ञान नहीं है कि हिंदुओं की कुल जनसंख्या में ब्राह्मणों का अनुपात कितना कम है, उन्हें इस बात का अहसास नहीं होगा कि चुनावों में ब्राह्मणों को कितना अधिक प्रतिनिधित्व मिला। परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि ब्राह्मणों को उनकी संख्या की अपेक्षा अत्यधिक प्रतिनिधित्व मिला।

जो यह जानना चाहते हैं कि संपन्न वर्ग जैसे बनिया, व्यापारी और जमींदार को कितना प्रतिनिधित्व मिला वे तालिका संख्या 3* देखें। इससे पता चलेगा कि बनियों, व्यापारियों और जमींदारों का अनुपात उनकी संख्या से कितना भिन्न है।

1937 में हुए चुनावों के बाद बने विधानमंडलों में शासक जातियों की यह स्थिति है। यह कहा जा सकता है कि कुल मिलाकर शासक जातियां विधानमंडलों

---

*. इन तालिकाओं में दर्शाए गए तथ्य भारत सरकार द्वारा जारी किये गये एक शासकीय प्रकाशन "इन्फारमेशन" के 15 जुलाई 1939 के अंक से लिए गए हैं।

में अल्पसंख्या में हैं। इसके संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि शासक जातियों का वर्चस्व विधानमंडलों में संख्या के परिप्रेक्ष्य में न देखा जाए, बल्कि यह देखा जाए कि कार्यपालिका में वे कितनी प्रशासनिक शक्ति पा जाते हैं। मंत्रियों के वर्ग समूह के विषय में बहुत स्पष्ट सूचना है, जो तालिका संख्या 5 और 6 में मौजूद है। तालिकाओं पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि मंत्रिमंडल में प्रमुख शासक जाति ब्राह्मण अत्यधिक स्थान पाने में सफल रही है। सभी हिंदू प्रांतों में प्रधानमंत्री ब्राह्मण थे। सभी हिंदू प्रांतों में यदि गैर–ब्राह्मण मंत्री शामिल भी किए गए, तो भी ब्राह्मण बहुसंख्या में थे, यहां तक कि संसदीय सचिव भी ब्राह्मण थे।

अब तक जो कुछ कहा गया है, उनसे दो बातें उभर कर सामने आती हैं। पहली तो यह कि भारत में एक सुपरिभाषित शासक वर्ग है, जो निम्न शासित जातियों से विशिष्ट और भिन्न है। दूसरी बात यह है कि शासक जातियां इतनी शक्तिशाली है कि 1937 के चुनावों में कम संख्या में चुने जाने पर भी उन्होंने आसानी से सत्ता हथिया ली और शासित जातियों पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया। अब मेरे लिए केवल अपना पक्ष रखने के लिए जो बिंदू बताने के लिए बच रहा है, वह है यह बताना कि 1937 के चुनावों में कांग्रेस शासक जातियों के प्रतिनिधियों की विजय के लिए कहां तक जिम्मेदार थी। मुझे यकीन है और मैं निस्संदेह यह प्रमाणित कर दूंगा कि कांग्रेस निम्न वर्ग पर शासक जातियों का प्रभुत्व बनाने के लिए जिम्मेदार है। यह कहा जा सकता है कि कांग्रेस का इससे कुछ लेना देना नहीं है। यदि कांग्रेस इसके लिए उत्तरदायी भी है तो यह मात्र संयोग था और कांग्रेस का इरादा शासक जातियों की जीत और प्रभुत्व जमाने में मदद करना ही था।

तालिका - 2

प्रान्तीय विधान सभाओं में जातियों के आधार पर कांग्रेस सदस्यों का वर्गीकरण

प्रांत	*ब्राह्मण*	*गैर–ब्राह्मण*	*अनुसूचित जातियां*	*अवर्णित*	*योग*
आसाम	6	21	1	5	33
बंगाल	15	27	6	6	54
बिहार	31	39	16	12	98
सी.पी. (मध्य प्रांत)	28	35	7	–	70
मद्रास	38	90	26	5	159
उड़ीसा	11	20	5	–	36
संयुक्त प्रांत	39	54	16	24	133

तालिका - 3

प्रांतीय विधान सभाओं के अनुसार कांग्रेस सदस्यों का व्यवसायानुसार वर्गीकरण

प्रान्त	वकील	डाक्टर	भूस्वामी	व्यापारी	निजी कर्मचारी	ऋणदाता महाजन	शून्य	अवर्णित	योग
आसाम	16	2	2	1	—	—	3	9	33
बंगाल	9	2	16	5	2	—	16	4	54
बिहार	14	4	56	6	3	—	1	14	98
सी.पी. मध्यप्रांत	20	2	25	10	—	—	8	5	70
मद्रास	52	2	45	18	2	1	3	36	159
उड़ीसा	8	1	17	4	4	1	1	—	36

तालिका - 4

कांग्रेसी प्रांतों में मंत्रिमंडल का गठन

प्रान्त	मंत्रिमंडल में मंत्रियों की संख्या	गैर-हिन्दू मंत्रियों की संख्या	मंत्रियों में हिन्दू मंत्रियों की संख्या				
			कुल योग	ब्राह्मण	गैर ब्राह्मण	अनुसूचित जातियां	मुख्यमंत्री
आसाम	8	3	5	—	—	शून्य	ब्राह्मण
बिहार	4	1	3	—	—	1	ब्राह्मण
बम्बई	7	2	5	3	2	शून्य	ब्राह्मण
सी.पी. मध्यप्रांत	5	1	4	3	1	शून्य	ब्राह्मण
मद्रास	9	2	7	3	3	1	ब्राह्मण
उड़ीसा	3	शून्य	3	—	—	—	—
संयुक्त प्रांत	6	2	4	4	शून्य	शून्य	ब्राह्मण

तालिका - 5

कांग्रेस प्रांतों में संसदीय सचिवों का वर्गीकरण

गैर हिन्दू पार्लियामेंटरी सचिवों की संख्या	हिंदू पार्लियामेंटरी			
	योग	ब्राह्मण	गैर ब्राह्मण	अनुसूचित जातियां
शून्य	शून्य	शून्य	शून्य	शून्य
शून्य	8	2	5	1
शून्य	6	1	5	शून्य
शून्य	शून्य	शून्य	शून्य	
1	7	3	4	1
शून्य	3	—	—	शून्य
1	11	2	8	1

तालिका - 6

शिक्षा के आधार पर कांग्रेस में ब्राह्मणों और गैर-ब्राह्मणों की संख्या का वर्गीकरण

प्रान्तीय विधान सभा	जातियां	योग	ग्रेजुएट	बिना ग्रेजुएट	हाई स्कूल कर्मचारी	अशिक्षित महाजन	अवर्णित
आसाम	ब्राह्मण	6	5	1	–	–	–
	गैर–ब्राह्मण	21	15	2	–	1	9
बंगाल	ब्राह्मण	15	14	1	–	–	–
	गैर–ब्राह्मण	27	21	4	–	1	7
	अनुसूचित जाति	6	3	–	1	2	–
बिहार	ब्राह्मण	31	11	5	8	4	3
	गैर–ब्राह्मण	39	23	4	3	8	13
	अनुसूचित जातियां	–	1	1	4	10	–
सी.पी. (मध्य प्रांत)	ब्राह्मण	39	15	–	2	9	2
	गैर–ब्राह्मण	54	15	–	2	17	1
	अनुसूचित जातियां	–	1	–	–	6	–
मद्रास	ब्राह्मण	38	16	2	3	4	13
	गैर–ब्राह्मण	90	31	3	1	7	61
	पिछड़ा वर्ग	–	1	–	–	–	–
उड़ीसा	ब्राह्मण	11	6	1	–	3	1
	गैर–ब्राह्मण	20	7	3	2	7	1
	अनुसूचित जातियां	5	–	–	–	5	–

V

इस बचाव तर्क का आसानी से उत्तर दिया जा सकता है। इस तर्क का कारण शायद यह है कि जो इसका सहारा लेते हैं, वे उस प्रांत के राजनीतिक वातावरण से परिचित नहीं है, जिनके बारे में तालिका 2 से 6 में आंकड़े दिए गए हैं। यदि उन्हें पता होता, तो शायद वे यह रास्ता न अपनाते, क्योंकि उनका संबंध कांग्रेस प्रांतों से है। इन प्रांतों में कांग्रेस का बहुमत था और उसी के मंत्रिमंडल थे। स्पष्ट है कि यदि शासक जातियों के प्रभावित प्रांत शासित जातियों पर अपनी सत्ता स्थापित करने में सफल हो सकें, तो यह कहना कठिन है कि कांग्रेस उसके परिणाम से कैसे पल्ला झाड़ सकती है। कांग्रेस एक सुगठित पार्टी है। चुनाव लड़ने के लिए उसकी एक योजना होती है। प्रत्येक प्रांत में एक संसदीय बोर्ड था जिसके कार्य थे – (1) चुनाव में प्रत्याशियों का चयन करना, (2) मंत्रिमंडल गठन पर निर्णय करना, और (3) मंत्रियों की कार्रवाइयों पर नियंत्रण रखना। प्रांतीय संसदीय बोर्ड के ऊपर संसदीय बोर्ड है जो प्रांतीय संसदीय बोर्डों का अधीक्षण और नियंत्रण करता है। इस चुनाव का नियोजन और नियंत्रण कांग्रेस ने किया, इसलिए यह कहना व्यर्थ है कि यदि 1937 के चुनावों में शासक जातियों ने सत्ता हथिया ली, तो उसके लिए कांग्रेस जिम्मेदार नहीं है।

बचाव का दूसरा तर्क भी पहले की तरह लचर है। जो लोग यह दलील देते हैं कि कांग्रेस प्रांतों में शासक जातियों का वर्चस्व मात्र एक संयोग है, उसके पीछे कोई संकल्प नहीं है, उन्हें पता होना चाहिए कि जो तर्क वे दे रहे हैं, वह थोथा है। जो लोग इसे मात्र संयोग मानते हैं, मैं उनका ध्यान निम्नलिखित परिस्थितियों की ओर आकर्षित करता हूँ।

सबसे पहले वे कांग्रेस हाई कमान के प्रमुख सदस्यों की मनोवृत्ति को देखें, जो अतीत में कांग्रेस के भाग्यनिर्माता रहे हैं और फिलहाल भी कांग्रेस की डोर जिनके हाथ में है। बेहतर होगा कि तिलक से आरंभ करें। अब वे दिवगंत हैं, परंतु जीवन काल में वे कांग्रेस के प्रमुख नेता थे और पार्टी पर उनका सबसे अधिक दबदबा था। श्री तिलक ब्राह्मण थे और शासक जातियों से सम्बद्ध थे। वैसे वे स्वराज आंदोलन के जनक कहे जाते हैं। परंतु शासित जातियों के प्रति उनकी उपेक्षा सुविदित है। स्थानाभाव के कारण मैं यहा शासित वर्ग के प्रति उनकी मनोवृत्ति का मात्र एक उदाहरण प्रस्तुत करूंगा। 1918 में जब गैर–ब्राह्मण लोगों तथा पिछड़े वर्ग के लोगों ने विधान सभाओं में अपने पृथक प्रतिनिधित्व के लिए आंदोलन आरंभ किया, तो श्री तिलक ने शोलापुर में हुई जन सभा में कहा : "मैं नहीं समझता कि तेल निकालने वाले तेली, तमोली, धोबी इत्यादि गैर–ब्राह्मण और पिछड़े वर्ग के लोग विधान सभाओं में क्यों जाना चाहते हैं?" श्री तिलक के विचार से उस वर्ग का कार्य है, आदेशों और कानूनों का मानना। तिलक

के पश्चात मैं वल्लभभाई पटेल को लेता हूं। उनकी मनोवृत्ति पर भी मैं एक ही उदाहरण दूंगा। वर्ष 1942 में लार्ड लिनलिथगो ने विभिन्न वर्गों के 52 गणमान्य भारतीय प्रतिनिधियों को इस बात पर विचार करने के लिए आमंत्रित किया कि उस समय युद्ध के अवसर पर भारत सरकार को सहानुभूतिपूर्वक सहयोग देने के लिए उठाए जाने के संबंध में उनकी क्या राय है। उन आमंत्रित व्यक्तियों में अनुसूचित जातियों के भी सदस्य थे। श्री वल्लभभाई पटेल को वायसराय का यह विचार पसंद नहीं आया कि ओछी जातियों की ऐसी भीड़ आमंत्रित की जाए। उस घटना के तुरंत बाद श्री वल्लभभाई पटेल ने अहमदाबाद में हुई जनसभा में कहा[1] "वायसराय ने हिंदू महासभा के नेताओं को आमंत्रित किया, मुस्लिम लीग के नेताओं को बुलाया, तेलियों, मोचियों और अन्य लोगों को आमंत्रित किया।"

यद्यपि श्री पटेल ने अपनी ईर्ष्यालु और कटाक्षपूर्ण भाषा में तेलियों और मोचियों का नाम विशेष तौर पर लिया, परंतु उनका भाषण इस बात का संकेत करता है कि शासक वर्ग तथा कांग्रेस हाई कमान के सदस्य इस देश के दमित वर्गों के प्रति कैसी अपमानजनक भावनाएं रखते थे।

यह जानना बेहतर होगा कि पंडित नेहरु की क्या प्रतिक्रिया थी। पंडित जवाहरलाल नेहरु एक ब्राह्मण हैं, परंतु उनके विषय में प्रचलित है कि वे स्वभाव से गैर–सांप्रदायिक हैं और धर्मनिरपेक्षता में विश्वास रखते हैं। परंतु तथ्य इसकी पुष्टि नहीं करते। किसी व्यक्ति के पिता का देहांत हो जाता है तो रूढ़िवादी हिंदू गंगा किनारे पंडों पुरोहितों से कर्मकांड कराते हैं। ऐसा संस्कार कराने वाले व्यक्ति को धर्मनिरपेक्ष नहीं कहा जा सकता। पंडित जवाहरलाल नेहरु ने 1931 में अपने पिता की मृत्यु पर वही किया। उनको पट्टाभिसीतारमैया तक ने गैर–सांप्रदायवादी बताया है कि पंडित नेहरु को इस बात पर गर्व है कि वह ब्राह्मण हैं।[2] यह जान कर उन लोगों को धक्का लगेगा जो पंड़ित नेहरु को भारत का उत्कृष्ट राष्ट्रवादी हिंदू नेता समझते हैं। श्री पट्टाभिसीतारमैया को यह पता होना चाहिए कि वह क्या कह रहे हैं। इससे भी बढ़ कर यह बात है कि पंडित नेहरु संयुक्त प्रांत से संबंध रखते हैं, वहां उनका पूरा नियंत्रण है, उस प्रांत के मंत्रिमंडल के सभी सदस्य ब्राह्मण हैं। केवल पंडित ही ब्राह्मण होने की भावना से ओतप्रोत हैं। ऐसा कहा जाता है कि दिसंबर 1940 में दिल्ली में आल इंडिया वूमन्स कांफ्रेंस हुई थी, उसमें जनगणना में जाति घोषणा न करने के विषय में वार्तालाप हुआ था। श्रीमती पंडित ने इस विचार को अस्वीकार कर दिया था[3] और कहा था

1. जे.ई. संजना द्वारा सेंस एंड नानसेंस इन पोलिटिक्स–गुजराती साप्ताहिक के रस्त रहबर, 14 जून, 1943 में उद्धत।
2. हिज इन्वीटेशन टु जवाहरलाल नेहरु, पृ. XVI, वाई.जी. कृष्णामूर्ति।
3. सैंस एण्ड नानसैंस इन पोलिटिक्स धारावाहिक XII रस्त रहबर, जनवरी 1945

कि उन्हें कोई ऐसा कारण नजर नहीं आता, जिससे कि वह अपने को ब्राह्मण रक्त होने पर गर्व न करें। उन्होंने अपने को ब्राह्मण ही लिखाया था। ये लोग कौन हैं? उनकी हैसियत क्या है? श्री तिलक स्वराज्य आंदोलन के जनक कहलाते हैं। श्री पटेल और पंडित नेहरु का स्थान कांग्रेस में श्री गांधी के एकदम बाद आता है।

ऐसा समझा जाता है कि कांग्रेस हाई कमान के सदस्यों के विचार व्यक्तिगत तथा निजी हो सकते है। परन्तु ऐसा सोचना गलत होगा। ऐसी अनेक घटनाओं का उल्लेख किया जा सकता है, जब कांग्रेस के चुनाव प्रचार अभियान में ऐसी बातों का अमल किया गया।

1919 में जब से श्री गांधी ने कांग्रेस पर कब्जा जमाया, ब्रिटिश सरकार से स्वराज्य की मांग मनवाने के लिए कांग्रेसियों ने विधान सभाओं का बहिष्कार करना अपना उददेश्य बना लिया। इस नीति के अंतर्गत उन्होंने न केवल चुनाव प्रचार से हाथ खींच लिया वरन् चुनावों में कांग्रेस ने कांग्रेस टिकट पर उम्मीदवार लड़ाने के विरोध में प्रचार किया, और यह भी कहा कि कोई हिन्दू निर्दलीय उम्मीदवार के रूप में भी खड़ा नहीं होगा। ऐसी नीति के गुणावगुण पर विवाद की आवश्यकता नहीं। परन्तु चुनाव में स्वतंत्र टिकट पर हिंदुओं को खड़े होने से रोकने के लिए कांग्रेस के रवैये का क्या अर्थ था? जो तरीके अपनाए गए थे, उनका लक्ष्य था विधान सभाओं को अपमान का निशाना बनाना। तदनुसार कांग्रेस ने विभिन्न प्रांतों में इस बात का प्रचार करने के लिए जलूस निकाले, जिनमें तख्तियों पर लिखा था "विधान सभाओं में कौन लोग जाएंगे। केवल नाई, मोची, कुम्हार और झाड़ू लगाने वाले भंगी।" जलूस में नारे का प्रश्नवाचक भाग एक आदमी बोलता था कि विधानसभाओं में कौन जाएंगे, और भीड़ की ओर से उत्तर दिया जाता था, नाई। जब कांग्रेसियों ने देखा कि चुनावों में खड़े होने से इस प्रकार डरा कर रोकने का उपाय कारगर नहीं सिद्ध हो रहा है तो उन्होंने इस से अधिक कठोर कदम उठाए। कांग्रेसियों ने यह माहौल बनाया कि कोई भी इज्जतदार उम्मीदवार चुनाव में खड़े होने से कतराएगा, यदि उन्हें निश्चय हो जाए कि विधान सभाओं में उन्हें नाइयों, कुम्हारों और भंगियों के साथ बैठना पड़ेगा—इसी विश्वास पर कांग्रेसियों ने वैसे ही शुद्र समुदायों से संबधित उम्मीदवारों को चुनाव में कांग्रेस टिकट से खड़ा किया और उन्हें निर्वाचित कराया। कांग्रेस की ऐसी निर्लज्ज करतूतों के कुछ उदाहरण दिए जा सकते हैं। वर्ष 1920 में चुनाव में मध्य प्रांत विधानमंडल के लिए एक मोची (फगुआ रोहिदास) को चुना। वर्ष 1930 के चुनाव में कांग्रेसियों ने मध्य प्रांत विधानमंडल के लिए दो मोचियों, गुरु गोसाई आगमदास बलराज जैसवार तथा एक ग्वाले (चुन्नू) को चुना। और एक नाई (अर्जुन लाल) को तथा पंजाब में एक भंगी बंसीलाल चौधरी को चुना। 1934 में कांग्रेस ने

केंद्रीय विधानमंडल के लिए एक कुम्हार (भगत चंदी मल गोला) को चुना। अब मैं वर्ष 1943 में बम्बई की एक बस्ती अंधेरी के लिए नगरपालिका चुनाव का उल्लेख कर रहा हूं, जिसमें कांग्रेस ने अपमानित करने के तौर पर नगरपालिका के लिए एक नाई को चुना।

शासक जातियों की यह कैसी मनोवृत्ति है। शासक जातियों में शासित जातियों के प्रति कितना क्रोध है कि उन्होंने इनके साथ ऐसा घृणित व्यवहार किया और फिर भी उनकी आजादी के लिए लड़ने का दावा किया। शासित जातियों की कैसी त्रासदी है, जिसने अपने अपमान पर गर्व अनुभव किया और उसमें स्वेच्छा से शामिल हो गए। आयरलैंड में सिन्नाफेन पार्टी ने ब्रिटिश पार्लियामेंट का बहिष्कार किया। परंतु क्या उन्होंने अपने स्वार्थ के लिए अपने ही देश के लोगों के बारे में ऐसा वीभत्स रूप अपनाया? 1930 में विधानमंडल के बहिष्कार करने का आंदोलन बड़ा दिलचस्प था। 1930 में प्रांतीय विधानमंडलों के लिए हुए चुनावों में जो घटनाएं घटी वे 1930 में गांधी जी के नमक सत्याग्रह के दौरान घटीं। मैं आशा करता हूं कि भावी (कांग्रेसी इतिहासकार डा. पटटाभिसीतारमैया इस विषय में विफल रहे) कांग्रेसी इतिहासकार यह बताएंगे कि कैसे श्री गांधी ने वायसराय लार्ड इर्विन को नोटिस देने का निश्चय किया, जिसमें उन्होंने अपनी मांगों की एक सूची किसी निश्चित समय तक मान लेने के लिए वायसराय को पेश की थी और वायसराय द्वारा मांगों के न मानने पर श्री गांधी ने किस प्रकार नमक कानून को निशाना बनाया और कैसे उन्होंने दांडी को सत्याग्रह के लिए चुना, किस प्रकार उन्होंने आंदोलन का स्वयं नेतृत्व करने का फैसला किया; किस तरह वे अहमदाबाद के आश्रम से गाजे बाजे के साथ निकले, कैसे अहमदाबाद की औरतों ने उनकी आरती उतारी, माथे पर विजय तिलक लगाया, कैसे श्री गांधी ने उन्हें विश्वास दिलाया कि अकेले गुजरात ही भारत को स्वराज्य दिलाएगा; कैसे श्री गांधी ने घोषणा की कि बिना स्वराज्य प्राप्त किए वह अहमदाबाद वापस नहीं लौटेंगे। इन सबका उल्लेख करने में कांग्रेसी इतिहासकार असफल न होगा कि एक तरफ कांग्रेसी स्वराज्य की लड़ाई में व्यस्त थे, जिसके लिए वे कहते थे कि समस्त जनता के नाम से वे उस लड़ाई को जीतना चाहते थे और दूसरी ओर उन्हीं वर्षों में वे नीची जातियों पर भयानक अत्याचार कर रहे थे और खुले तौर पर उनका अपमान कर रहे थे।

VI

शासित जातियों के प्रति कांग्रेस हाई कमान की यह मनोवृत्ति इस सिद्धांत के विपरीत रही है कि शासक जातियों का प्रांतों में प्रभुत्व मात्र एक संयोग है। कुछ और भी बातें हैं जो इस सिद्धांत के संयोग कहे जाने के विपरीत जाती

हैं। वे तालिका संख्या 6 में दर्शाई गई हैं। ये कांग्रेस द्वारा चुनाव लड़ने के लिए छाटें गए उम्मीदवारों की शैक्षणिक योग्यताओं से संबंधित है। यह स्पष्ट है कि ब्राह्मणों के बारे में स्नातक और गैर–स्नातक के अनुपात का अंतर गैर–ब्राह्मण और अनुसूचित जातियों की अपेक्षा बहुत अधिक था। क्या वह एक संयोग ही था या एक नीतिगत मामला था। यह चयन इस प्रकार किया गया था कि इसके मापदण्ड को देखते हुए यह पक्का संदेह हो सकता है कि उम्मीदवारों के चयन में कांग्रेस का एक निश्चित सिद्धांत था कि ब्राह्मणों के मामले में उन उच्चतम योग्यता वाले ब्राह्मण का चयन किया जाए तथा अनुसूचित जातियों में उन उम्मीदवारों को प्राथमिकता दी जाए, जिनकी योग्यता निम्नतम है। स्नातक और गैर–स्नातक का अंतर उस वास्तविक अंतर को प्रकट नहीं करता, जो ब्राह्मण और गैर–ब्राह्मण उम्मीदवारों की हैसियत और स्थिति से सम्बद्ध है। ब्राह्मण उम्मीदवार न केवल स्नातक थे, बल्कि अनुभवी और प्रतिष्ठित राजनीतिज्ञ भी थे। गैर–ब्राह्मण उम्मीदवार नए स्नातक थे, जो मात्र दूसरे दर्जे के राजनीतिज्ञ हो सकते थे।

कांगेस ने चुनाव के लिए उच्च शिक्षा प्राप्त ब्राह्मण उम्मीदवारों को ही क्यों छांटा? कांग्रेस ने चुनाव के लिए गैर–ब्राह्मणों और अनुसूचित जातियों के प्रतिनिधि न्यूनतम शिक्षा प्राप्त क्यों थे? इसका एक उत्तर है। इसका उददेश्य गैर–ब्राह्मणों और शासित जातियों के प्रतिनिधित्व को कांग्रेस मंत्रिमंडल में शामिल होने से रोकना था। ऐसा नहीं हो सकता था कि बेहतर शिक्षित गैर–ब्राह्मण उम्मीदवार नहीं थे। प्रतीत होता है कि कांग्रेस ने जानबूझकर शिक्षित व्यक्ति के मुकाबले में अशिक्षित गैर–ब्राह्मणों को प्राथमिकता दी थी, वह क्यों? क्योंकि शासक जातियों के विचार से शिक्षित गैर–ब्राह्मण की अपेक्षा अशिक्षित गैर–ब्राह्मण को चुनने में दो लाभ थे। एक तो यह कि अशिक्षित गैर–ब्राह्मण शिक्षित गैर–ब्राह्मण की अपेक्षा कांग्रेस हाई कमान का अधिक वफादार और कृतज्ञ होगा और कांग्रेस में शिक्षित गैर–ब्राह्मणों से मिल कर शासक जातियों के बने कांग्रेस मंत्रिमंडल के प्रति विद्रोह न कर सकेगा। दूसरे यह कि यदि स्नातक से कम योग्यता प्राप्त साधारण शिक्षित गैर–ब्राह्मण चुने जाते हैं, तो उसका उददेश्य था कि कहीं कांग्रेस में शासक जातियों को धता बता कर, वे गैर–ब्राह्मण मंत्रिमंडल न बना ले। तीसरे यह कि कांग्रेस में जितने अधिक अशिक्षित गैर–ब्राह्मण होंगे, उतने ही कम अवसर गैर–ब्राह्मणों के समक्ष और वैकल्पिक मंत्रिमंडल बनाने के होंगे। इन परिस्थितियों में क्या इस बात में संदेह रह जाता है कि कांग्रेस जो आजादी की लड़ाई लड़ रही है वह आजादी केवल शासक जातियों की होगी। किसी अन्य की नहीं? क्या इसमें संदेह है कि कांग्रेस शासक जातियां है और शासक जातियां ही कांग्रेस हैं? क्या इसमें कुछ संदेह बचा है कि जब 1937

में स्वराज्य प्रांतीय विधानमंडलों के रूप में आया तो कांग्रेस ने इरादतन और निर्लज्जता से शासक जातियों को सत्तासीन कर दिया?

VII

उपरोक्त तथ्यों से निस्सदेंह सिद्ध होता है कि कांग्रेस द्वारा शुरू किया गया स्वतंत्रता–संग्राम भारतीय स्वतंत्रता के लक्ष्य और उददेश्य से भटका हुआ है और इस भटकाव में कांग्रेस का हाथ है। इसके परिणाम बहुकोणीय हैं। जो भारत की शासक जातियों के दृष्टिकोण और सामाजिक दर्शन को न जानता हो उसके लिए इसके फलितार्थ को समझना संभव नहीं है।

पहले ब्राह्मणों को लीजिए। इतिहास के अनुसार वे भारत की शासक जातियों में सब से अधिक शक्तिशाली और अधिकार संपन्न हैं। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि वे शासित वर्ग के घोर शत्रु हैं।

शूद्र और अछूत हिंदुओं की आबादी के 80 या 90 प्रतिशत हैं। ब्राह्मण उनके घोर शत्रु रहे हैं। दीन–हीन शासित जातियां नीचे गिरी हुई हैं, अपमानित है, निराश हैं और कुंठित हैं। वह केवल ब्राह्मणों के कारण और उनके दर्शन के कारण ही हुआ है। इस ब्राह्मणवाद के दर्शनशास्त्र के 6 धर्म सूत्र हैं : (1) विभिन्न वर्गों में असमानता, (2) शूद्रों और अछूतों की पूरी बेबसी, (3) शूद्रों और अछूतों के लिए शिक्षा द्वार बंद होना, (4) सत्ता और अधिकार से शूद्रों और अछूतों को पूर्णतः वंचित रखना, (5) शूद्रों और अछूतों को संपत्ति संचय से वंचित रखना, और (6) स्त्रियों की पूर्ण अधीनता एवं दमन। असमानता ब्राह्मणवाद का आधिकारिक सिद्धांत है और दलितों द्वारा समानता के लिए प्रयास करने के कारण उनके दमन करने पर उसे पश्चाताप नहीं होता, बल्कि यह उसका परम कर्तव्य है। कुछ देश ऐसे है, जहां कुछ लोगों के सिवाय अन्य लोगों को शिक्षा नहीं मिल पाती। परन्तु भारत ही एक ऐसा देश है जहां प्रबुद्ध वर्ग, जैसे कि ब्राह्मणों ने शिक्षा पर एकाधिकार ही नहीं कर रखा है, बल्कि निम्न वर्गों के लिए शिक्षा ग्रहण करना अपराध मान कर जीभ काट लेने की सजा अथवा अपराधी के कान में पिघला हुआ सीसा डालने की व्यवस्था है। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मणों ने सदियों तक शासित जातियों को शिक्षा के अधिकार से वंचित रखा। आज भी ब्राह्मण उनकी शिक्षा का उतना ही विरोधी है जितना 1891 में जनगणना–आयुक्त श्री बेन्स ने लिखा है:–

> "शिक्षा के विस्तार में दूसरा प्रतिरोधी प्रभाव देश में प्राचीनकाल से विद्यमान एक ऐसे परंपरागत वर्ग मौजूदगी है जिसका मुख्य उददेश्य पूरे ज्ञान विज्ञान पर अपना एकाधिकार जमाए रखना है ताकि वे अपनी

> सामाजिक श्रेष्ठता को कायम रख सके। यह पंडा–पुरोहित वर्ग जानता है कि वे केवल अशिक्षितों पर राज कर सकते हैं। लेखन–कार्य करने वाली जातियों के विकास पर ब्राह्मणों का विरोध पहले ही वर्णित किया जा चुका है और जनसाधारण में शिक्षा के प्रसार को लेकर आजकल दोनों के बीच चल रहा मनमुटाव लंबे अनुभव के पश्चात ही प्रकट हो सकेगा। यह ठीक है कि ब्रिटिश सरकार को प्राथमिक शिक्षा के लाभ और आवश्यकता के अहसास की कुछ प्रतिक्रिया शिक्षित जातियों में हुई है, परंतु अभी उस पर सैद्धांतिक सहमति ही हुई है। मौजूदा हालात में इसकी सहज ही में अनदेखी नहीं की जा सकती। यह स्वागत योग्य भी है कि इनमें से कई जातियों को जीवनयापन के अवसर मिलते हैं, क्योंकि उन्हें अध्यापक बनाया जा सकता है और तदनुसार उन्हें शिक्षण का सरकारी स्तर बनाए रखना होता है। इन जातियों की वास्तविक रूचि आध्यात्मिक शिक्षा तक ही केंद्रित रहती है, जिसका लाभ उठाने की स्थिति में वे हैं।

कांग्रेसी राजनीतिज्ञ शिकायत करते हैं कि अंग्रेज भारतीय जनता को पूर्णतया शक्तिहीन करके शासन चला रहे हैं। परन्तु वे भूल जाते हैं कि शूद्रों और अछूतों को शक्तिहीन करने का कानून ब्राह्मणों द्वारा लागू किया गया था। वास्तव में शूद्रों और अछूतों को शक्तिहीन रखने में ब्राह्मण अटल विश्वास रखते हैं। जब ब्राह्मणों को शस्त्र धारण करने की आवश्यकता हुई तो अपनी सुख–सुविधाओं की सुरक्षा के लिए उसने शस्त्र धारण कर लिए। उन्होंने शूद्रों तथा अछूतों को बिना उनकी मुसीबतों को सुने शस्त्ररहित ही रखा। यदि आज भारत की अधिकांश जनसंख्या में लोग पौरूषहीन हैं, उनका मनोबल नष्ट हो गया है और अमानवीय हैं, तो उसका मुख्य कारण है ब्राह्मणों की शूद्र–द्रोही नीति, जिसे वे युग युगांतर से अपनाते चले आ रहे हैं। कोई भी ऐसी सामाजिक कुरीति तथा सामाजिक कुप्रथा नहीं है, जिस पर ब्राह्मणों की मुहर न लगी हो। मानस का मानव के प्रति अमानुषिक व्यवहार जैसे कि जांत पांत की भावना, अस्पृश्यता, उच्च पद पर पहुंचने पर रोक, योग्यता की अनदेखी करना ब्राह्मणों का धर्म है। यह मान लेना गलत न होगा कि किसी मनुष्य द्वारा दूसरे के साथ ऐसे पाश्विक व्यवहार करना ही ब्राह्मण धर्म है, क्योंकि ब्राह्मणों ने समाज की पतिततम प्रथा को शह दी, जिससे भारत में स्त्रियों को जितने घोर कष्ट उठाने पड़े उनकी संसार के किसी अन्य भाग से तुलना नहीं की जा सकती। भारत में विधवाओं को सती होने के नाम पर जीवित आग में झोंक दिया जाता था। ब्राह्मणों ने सती प्रथा को पूर्ण समर्थन दिया। विधवा स्त्रियों को पुनर्विवाह करने पर प्रतिबंध लगा दिया। ब्राह्मणों ने इस आचरण को दृढ़ता से स्थापित किया। बालिकाओं का विवाह आठ वर्ष की

अवस्था में पहले कर दिया जाता था और पति को अधिकार था कि किसी भी समय वह विवाह तोड़ सकता था, चाहे वह लड़की पूर्ण यौवन प्राप्त कर रजस्वला आयु की हुई हो अथवा नहीं। ब्राह्मणों ने इस सिद्धांत को पूरा प्रोत्साहन दिया। शूद्रों, अछूतों और नारी के लिए ब्राह्मणों ने जो घृणित विधान रचे संसार के किसी भी भाग में किसी बौद्धिक वर्ग में उनका सानी नहीं। क्योंकि संसार के अन्य भागों में बौद्धिक वर्ग ने अपने ही देश के अशिक्षित लोगों को सदा के लिए अज्ञानता और निर्धनता के गर्त में धकेलने को अपनी स्थिति के दुरूपयोग का आविष्कार नहीं किया जैसा कि भारत में ब्राह्मणों ने किया है। आज का प्रत्येक ब्राह्मण अपने पूर्वजों द्वारा प्रतिपादित ब्राह्मणवाद के दर्शन में पूरा विश्वास रखता है। यह हिंदू समाज में एक निराली ही चीज है। शूद्र और अछूत ब्राह्मण के लिए विदेशी जैसे हैं जैसा कि जर्मन के लिए फ्रांसीसी, जैसे कि यहूदी के लिए गैर यहूदी, गोरों के लिए नीग्रो। उसके और निम्न वर्गीय शूद्रों तथा अछूतों के बीच यह वास्तविक गहरी चौड़ी खाई है। ब्राह्मण उनसे केवल परहेज नहीं करता, बल्कि उनके प्रति कठोर है। उनके आपसी संबंध में विवेक और न्याय की कोई गुंजाइश नहीं है।

बनिया इतिहास में निकृष्टतम अमरबेल के नाम से पुकारा जाता है। उसकी संस्कृति और प्रवृत्ति मात्र धन बटोरना है। वह उस पिस्सू के समान है जो किसी भयंकर महामारी के समय तेजी से पनपता है। उसमें और बनिए में केवल इतना अंतर है कि पिस्सू स्वयं कोई महामारी नहीं फैलाता, जबकि बनिया महामारी पैदा करता है। वह अपने धन को उत्पादक कार्यों में नहीं लगाता, बल्कि गरीबी और अधिक गरीबी बढ़ाने के लिए अनुत्पादक कार्यों के लिए ऋण देने में लगाता है। वह ब्याज पर जीता है, जिसे वह उचित और न्यायपरक तथा धार्मिक मानता है। ब्राह्मण न्यायाधीश सदैव बनिए के पक्ष में निर्णय देने के लिए तैयार रहता है, बनिया ब्राह्मण न्यायाधीश की सहायता से अपना धंधा फैलाता है। ब्याज, चक्रवृद्धि ब्याज सब जोड़ते हुए, वह करोड़ों निर्धनों को अपने जाल में फांस लेता है। कर्जदार जितना भी ऋण अदा करता है, कर्जा बढ़ता ही जाता है। ऐसा करने में बनिये को किसी जमीन की आवश्यकता नहीं। वह इसे छल–कपट नहीं समझता और सभी तरह से वाक्छल करता है। राष्ट्र पर उसका पूरा नियंत्रण होता है। सारे निर्धन भूखे नंगे बनिए के बंधक बन कर रह गए हैं।

प्रत्येक देश में शासक वर्ग होते हैं। कोई देश उनसे मुक्त नहीं है। परंतु क्या विश्व में कहीं और ऐसी स्वार्थी, दूषित, खतरनाक और भ्रष्ट मनोवृत्ति मौजूद है जिसका इतना जघन्य और कुख्यात सोच हो जो शासित जातियों को पददलित करने की हामी हो, ताकि शासक जातियों की शानोशौकत को कायम रखा जा सके। मैं किसी को नहीं जानता। यह सच है कि अन्य देशों में शासक दल हैं

जो ऐसे लोगों में उठ–बैठ नहीं रखते, जो उनके बराबर के नहीं हैं। न ही वे नीचे से ऊपर उठ चुके लोगों के साथ बैठनें में एतराज करते हैं, जन्म से अपने से अलग वर्ग के साथ मिलने जुलने में रूचि नहीं रखते और शासित जातियों को अपना स्तर सुधारने से रोकने के लिए हर तरीका अपनाते हैं।

VIII

फ्रांसीसी क्रांति से पूर्व फ्रांस में शासक वर्ग था। जापान में 19वीं शताब्दी के आठवें दशक के पूर्व शासक जातियां थीं, जब जापान ने अपने संविधान को आधुनिक रूप देने का फैसला किया। इन दोनों देशों में शासक वर्ग ने महसूस किया कि यह राष्ट्रीय संकट की घड़ी है, इसलिए उन्होंने अपने पुराने अधिकारों और विशेषाधिकारों को त्यागने का निर्णय किया ताकि कुलीनतंत्र से सहज रूप से लोकतंत्र में संक्रमण हो सके।

फ्रांस में जब क्रांति ने अंगड़ाई ली और जनता ने शासक जातियों से समानता की मांग की तो शासक जातियों ने स्वेच्छा से सत्ता और अधिकार छोड़ कर अपने को जनता में शामिल कर लिया। जब स्टेट्स जनरल को बुलाया गया उस समय जो हुआ उससे यह स्पष्ट है। कामन्स के 600 प्रतिनिधि थे तथा पादरियों और सामंतों के प्रत्येक के तीन–तीन सौ थे। प्रश्न यह उठा कि 1200 सदस्य कैसे बैठेंगे, बहस करेंगे और मतदान करेंगे। कामन्स ने आग्रह किया कि सभी पक्ष एक चेम्बर में एकत्र हों और एक मत के आधार पर मतदान करें। पादरियों तथा सामंतों ने इस स्थिति को स्वीकार नहीं किया, क्योंकि ऐसा करने का अर्थ होता अपनी अमूल्य परंपराओं, सुविधाओं का परित्याग करना। तब भी उनमे से अधिकांश ने कामन्स की मांग स्वीकार कर ली और फ्रांस को स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व पर आधारित संविधान दिया।

जापान के शासक वर्ग ने वर्ष 1855 से 1870 के दौरान सामंतशाही को त्याग कर वर्तमान शासन पद्धति अपनाई, वहां का शासक वर्ग फ्रांस के शासक वर्ग की अपेक्षा अधिक देशभक्त था। जैसा कि जापान के इतिहास का विद्यार्थी जानता है, जापानी समाज में चार वर्ग थे : (1) दमियो, (2) समुराई, (3) हेमिन अथवा जनसामान्य, तथा (4) ईटा अथवा बहिष्कृत। इन जातियों के सीढ़ी दर सीढ़ी ऊंचे नीचे वर्ग थे। सबसे नीचे ईटा थे, जो हजारों की संख्या में थे। उनसे ऊपर हेमिन थे, जो ढाई–तीन करोड़ थे। हेमिन से ऊपर समुराई थे, जिनकी संख्या 20 लाख थी, जिनके हाथों में हेमिनों का जीवन मरण बंद था। उससे ऊपर दमिया अथवा बड़ी जागीर वाले सामत थे, जिनका नीचे के तीनों वर्गों पर पूर्ण शासन था। उनकी संख्या 300 थी। दमिया और समुराई लोगों ने समझ

लिया कि जब तक वर्गवाद को तिलांजलि नहीं दी जाएगी, सभी को समानता और समान नागरिकता देना और समान सामंतवाद को त्याग देना असंभव है। तदनुसार दमिया लोग जो राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत थे और राष्ट्रीय एकता में कोई बाधा उत्पन्न नहीं करना चाहते थे, अपनी सुविधाओं का परित्याग करने के लिए आगे आए और सर्वसाधारण में शामिल हो गए। 5 मार्च, 1869 को उन्होंने सम्राट को, जो ज्ञापन दिया था, वह इस प्रकार था :–*

> "हम जिस भूमि पर रहते हैं, सम्राट की है। जो अनाज हम लोग खाते है, सम्राट के आदमियों द्वारा पैदा किया जाता है। तो हम किसी जायदाद को अपनी कैसे कह सकते हैं? अब हम स्वेच्छा से अपनी संपत्ति सादर समर्पित करते हैं और हमारे समुराई तथा जनसामान्य भी आपसे अनुरोध करते हैं कि सम्राट उन लोगों को संपत्ति देने की कार्यवाई कराए जिन्हें वास्तव में यह मिलनी चाहिए और उन्हें दंडित करें, जो उस संपत्ति के रखने के अधिकारी नहीं है। शासन विभिन्न वंशों और जातियों की भूमि सम्पति का हस्तांतरण करने और वर्तमान सांचे में ढालने के लिए* आवश्यक आदेश जारी करें। दीवानी एवं दंड संहिता और सैनिक कानूनों में एकरूपता लाकर युद्ध आयुधों का निर्माण हो। सामाज्य के सभी कार्यकलाप सम्राट को सौंप दिए जाएं।"

जापान में शासक वर्ग की तुलना भारत के शासक वर्ग से कैसे की जा सकती है? यह पूर्णतया इसके विपरीत है। दुर्भाग्य से अभी भारत में शासित जातियों द्वारा शासक जातियों का जुआ उतार फैंकने का इतिहास नहीं लिखा गया है, परन्तु उन्हें इस विषय में ज्ञान है, वे जानते हैं कि भारत में शासक वर्ग भारतीय स्वतंत्रता की बलिवेदी पर ऐसा बलिदान करने का संकल्प नहीं कर सकता। राष्ट्रीयता के नाम पर अपनी सुख–सुविधाओं का परित्याग करने के बजाए भारत का शासक वर्ग अपनी सुख–सुविधाओं को स्थायी बनाए रखने के लिए हर तरीका अपनाती है। वह जो हथियार अपनाता है उनमें पहला है राष्ट्रीयता का नारा। जब कभी शोषित वर्गों के लोग सरकारी सेवाओं में, कार्यपालिका में तथा विधायिका में आरक्षण की मांग करते हैं, तो शासक जातियां "राष्ट्रीयता खतरे में है" की दुहाई देती हैं। कहते हैं कि यह आरक्षण क्या बला है? इसे संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि वे उसे हीले हवाले से टालना चाहते है जबकि शासक जातियां शासित जातियों के अपना अस्तित्व बनाए रखने के संघर्ष को दबा नहीं पाएंगी। आरक्षण की मांग कोई पाप नहीं है और न ही यह कोई अनुचित मांग है। शासक जातियों की इस पर क्या प्रतिक्रिया है? वे इसकी भर्त्सना करने और

---

*. *रोमेन्स आफ जापान* लेखक जेम्स ए बी सरेरे।

इसका मखौल उड़ाने का मौका नहीं चूकते। लोगों से कहा जाता है कि यदि हमें राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करनी है, तो हमें राष्ट्रीय एकता बनाए रखनी चाहिए और सरकारी सेवाओं में, कार्यपालिका में तथा विधान सभाओं में आरक्षण आदि राष्ट्रीय एकता के प्रतिकूल है। इसलिए जो राष्ट्रीय स्वतंत्रता में दिलचस्पी रखते हैं, उन्हें इस प्रकार के आरक्षण की मांग का डट कर विरोध करना चाहिए। यह है भारत के शासक वर्ग की मनोवृत्ति। भारत की शासक जातियां जापान की शासक जातियों से पूर्णतया विपरीत दृष्टिकोण रखती हैं। यह तो राष्ट्रीयता के नाम का दुरूपयोग करना है। शासक जातियों को उसके दुरूपयोग का कोई पश्चाताप भी नहीं है।

शासक जातियों ने जो दूसरा तरीका अपनाया है, वह है कि शासक जातियों के कुछ प्रतिष्ठित सदस्य इस हद तक पहुंच गए हैं कि उन्होंने शोषित जातियों की मांग को बकवास और हास्यास्पद बताते हुए प्रचार करने के लिए कटाक्षपूर्ण व्यंग्यात्मक पेरोडी लिखी। डाक्टर आर.पी. परांजपे जो आस्ट्रेलिया में नए हाई कमिश्नर बना कर भेजे गए थे उन्होंने पेरोडी लिखी थी* जो आधुनिक उदारवाद का दंभ भरते हैं। उन तक से यह न बना कि वे अपने मनोभावों को दबा पाते। वे इतना घटिया मखौल करने से बाज नहीं आए। सभी पेरोडियों में यह सबसे तीखी थी। जब उनकी ये रचनाएं छपीं तो इससे शासित जातियों में बहुत क्षोभ फैला।

शासक जातियां मेहनतकश जातियों की मांग का विरोध करने के लिए जो दलील देती है, उसका आधार कार्यक्षमता का सिद्धांत बताया जाता है। उसे देशभक्ति का रंग देने के लिए शासक जातियां कहती हैं। भारत का उददेश्य सक्षम राजनीतिक ढांचा बनाए रखना होना चाहिए और यह तभी हो सकता है जब सत्ता के क्षेत्र में श्रेष्ठतम व्यक्तियों को रखा जाए। इस तर्क से विदेशी प्रभावित हुए लगते हैं और इसी कारण वे आरक्षण का विरोध न भी करें पर उसकी आलोचना अवश्य करते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि इस तर्क का औचित्य जांचा परखा जाए और जो लोग यह तर्क देते हैं कि उनकी मनोभावना क्या है, इसका पता लगाया जाए।

---

* डा. आर.पी. परांजपे द्वारा लिखित पेरोड़ी 'गुजरात पंच' के मई 1926 के अंक में छपी थी। इसका शीर्षक था "ए पीप इन टू द फ्यूचर"। शासक जातियों के लेखों का यह देखने योग्य नमूना है। साम्प्रदायिक आरक्षण के सिद्धांत के अनुसार कुछ कल्पित घटनाओं पर यह एक कटाक्ष है। क्योंकि पत्रिका आसानी से उपलब्ध नहीं है मै उसे नए सिरे से पेश कर रहा हूं :

'ए पीप इन टू फ्यूचर'

निम्नांकित सार संक्षेप 1930–50 के दौरान प्रकाशित आयोगों के प्रतिवेदनों, पुलिस के अदालती मामलों के रिकार्डों, अदालती मुकदमों, परिषद कार्यवाहियों, प्रशासनिक रिपोर्टों आदि से गुजराती पंच के पाठकों के लिए प्रकाशित की गई है।

इस सिद्धांत पर किसी को कोई आपत्ति नहीं कि योग्यतम व्यक्ति की जगह उससे कम योग्य व्यक्ति को और साधारण योग्यता के व्यक्ति की जगह बिल्कुल अयोग्य व्यक्ति को न लगा दिया जाए। परंतु ऐसा तर्क भारतीय इतिहास की घटनाओं पर दृष्टिपात करने से पूर्णतया निरर्थक सिद्ध होता है, क्योंकि भारतीय इतिहास के अनुसार जो योग्यतम व्यक्ति चुना जाता था वह शासक जातियों से ही संबंधित होता था। शासक जातियों के विचार से यह सिद्धांत बहुत ठीक था।

भारत सरकार के लिए शाही आयोग की 1930 की रिपोर्ट

भारत में विभिन्न समुदायों को प्रतिनिधित्व देने के लिए गहराई से विचार किया गया है। पिछली जनगणना के आंकड़ों को ध्यान में रखकर उसके आधार पर हम सभी दावों पर मोटे तौर से ही लोगों को संतुष्ट कर सकते हैं क्योंकि उस समय तक इस समस्या का सम्पूर्ण समाधान नहीं हो सकता जब तक कि ऐसी सरकार का गठन न हो जाए जिसमें देश के प्रत्येक नागरिक को इसका सदस्य न बना दिया जाए क्योंकि कई समुदायों का समान आधार नहीं है। हमने संविधान में 2375 को मौलिक संख्या बताया है और अनेक समुदाय के भागों में उसे विभाजित कर दिया है जैसा कि संलग्न प्रतिवेदन पूर्व में उपलब्ध है। प्रत्येक समुदाय को उसके दावें के अनुसार प्रतिनिधित्व दिया जाएगा और देश में सारी नियुक्तियां, विभिन्न संस्थाओं की सदस्यता और दरअसल हर चीज का वितरण यथासंभव अनुसूची के अनुसार किया जाएगा। वाइसराय की कार्यकारी परिषद में 475 सदस्य होंगे जिनका निर्वाचन प्रत्येक समुदाय के सदस्यों के पांचवे भाग के हिसाब से किया जाएगा और तीन सदस्य एक–एक साल तक पद पर रहेंगे ताकि पांच वर्षों के दौरान प्रत्येक समुदाय को उसका सही अंश प्राप्त हो सके। प्रत्येक उच्च न्यायालय में 125 न्यायाधीश होंगे। प्रत्येक न्यायाधीश का कार्यकाल एक वर्ष होगा। हालांकि इस व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक वर्ग को 19 साल के अंतराल पर अपना सही हिस्सा मिलेगा। सभी दावों से निबटने के लिए अन्य नियुक्तियां भी इसी आधार पर की जाएंगी।

सभी संस्थाओं के सुचारू संचालन के उद्देश्य से इम संख्याओं के मद्देनजर आवश्यकतानुसार मौजूदा सरकारी इमारतों को गिरा दिया जाएगा और फिर उन्हें उपयुक्त आकार में बनाया जाएगा।

II

भारत सरकार की अधिसूचना 1932

1931 के भारत सरकार अधिनियम के प्रावधान के अनुसार महामहिम सम्राट ने निम्नांकित 475 व्यक्तियों को गवर्नर जनरल की कार्यकारी परिषद का सदस्य मनोनीत किया है :

267 मातादीन रामदीन (जाति नाई) आयुर्विज्ञान विभाग में शल्य चिकित्सा शाखा का प्रभारी सदस्य।

372 अल्ला बक्स पीरबक्स (मुसलमान ऊंटवान) सेना में ऊंट परिवहन प्रभाव का प्रभारी।

433 रामास्वामी (जाति आन्ध्र भंगी) लोक सेवा निर्माण विभाग में सड़क स्वच्छता शाखा प्रभारी।

437 जगन्नाथ भट्टाचार्य (कुलीन ब्राह्मण पुरोहित) पंजीकरण विभाग में घरेलु अनुभाग प्रभारी।

IV

(सभी स्थानीय सरकारों को पत्र 1934)

भारत सरकार की सहमति से विधान सभा द्वारा पारित प्रस्ताव के अनुरूप मुझे यह कहने का आदेश हुआ है कि अबसे सरकार में प्रत्येक समुदाय के सदस्य को बारी–बारी से नियुक्त किया जाए चाहे उम्मीदवार की योग्यता कुछ भी हो।

परंतु क्या वह सिद्धांत मेहनतकश समुदाय के दृष्टिकोण से ठीक कहा जा सकता है? क्या श्रेष्ठ जर्मन व्यक्ति फ्रांसीसियों के लिए भी श्रेष्ठ हो सकता है? क्या

V

(बम्बई सरकार के राजपत्र 1934 की अधिसूचना)

बम्बई सरकार दिसम्बर में निम्नांकित नियुक्तियां करेगी। विभिन्न नियुक्तियों के लिए प्रार्थी प्रत्येक पद के सामने लिखी जाति से सरकार के आदेश संख्या दिनांक 30 नवम्बर 1934 के अनुसार बारी–बारी से रखें जाएगें।

1. मुख्य अभियंता सिंचाई सिंध : उत्तरी केनरा का कुनबी।
2. एलकिंस्टन कॉलेज बम्बई के लिए संस्कृत प्रवक्ता : सिंध का बलूची पहान।
3. महामहिम के अंगरक्षकों का कमान्डैंट : उत्तरी गुजरात का माखाड़ी।
4. सरकार का वास्तुकार परामर्शदाता : बादारी दक्षिण से खाना बदोंश।
5. इस्लामी संस्कृत निदेशक : करहदा ब्राह्मण।
6. शरीरशास्त्र प्रवक्ता (ग्रांट मेडीकल कालिज) मुसलमान कसाई।
7. यर्वदा जेल अधीक्षक : घंटीचोर
8. मद्यनिषेद के दो आयोजक : धारला (भील खेड़ा) (पंच महल)

VI

(उच्च न्यायालय के एक मुकदमें की रिपोर्ट 1935)

क.ख. (जाति तेली) पर अपने सोते हुए पिता की निर्मम हत्या का आरोप था। न्यायाधीश ने अभियुक्त के विषय में सुनवाई की। जूरी ने उसे अपराधी ठहराया और अभियुक्त के वकील से कहा कि वह कुछ कहना चाहता है। वकील श्री बोमनजी ने कहा कि वह फैसले से सहमत है परंतु कानून के अनुसार अभियुक्त को किसी भी दशा में फांसी नहीं दी जा सकती क्योंकि इस साल सात मामलों में इन्हें सजा दी जा चुकी है इनसे दो तेलियों को पहले ही फांसी की सजा दी जा चुकी है और भारत के संविधान के अनुसार निर्धारित कोटे में से कई अन्य समुदायों का कोटा पूरा नही हुआ है, तेलियों का कोटा पूरा हो चुका है। विद्वान न्यायाधीश ने बचाव पक्ष के वकील की दलील स्वीकार कर ली और अभियुक्त को बरी कर दिया।

VII

अन्नाजी रामचन्द्र (चितपावन ब्राह्मण) हाथ में लम्बा चाकू लिए पूना की गलियों में हर आने जाने वाले पर आक्रमण करते हुए पाया गया। जब उसे मजिस्ट्रेट के सामने पेश किया गया तो पुलिस ने बताया कि वह हाल ही में पागलखाने से रिहा किया गया था। अपनी गवाही में पागलखाने के अस्पताल के अधीक्षक ने कहा कि अन्नाजी पिछले तीन वर्षों से अस्पताल में एक खतरनाक रोगी के रूप में रखा गया था। परंतु क्योंकि चितपावनों का निर्धारित कोटा है और अन्य समुदायों का कोटा अवधि पूरी नहीं हुई है इसलिए उसे आगे और नहीं रखा जा सकता था और चितपावनों के साथ रिआयत नहीं बरती जा सकती। इसलिए उसे सरकार के आदेश संख्या के अनुसार छोड़ दिया गया। मजिस्ट्रेट ने अन्नाजी की रिहाई के आदेश दे दिए।

VIII

(बम्बई प्रेसीडेंसी के जेल प्रशासन की 1937 की रिपोर्ट का सार-संक्षेप)

हर तरह की सावधानियां बरतने के बावजूद जेल के सदस्य प्रत्येक समुदाय के लिए निर्धारित कोटा पूरा नहीं कर सके। उस अभाव को पूरा करने के लिए अधीक्षक ने सरकार से निर्देश भेजने का अनुरोध किया है।

श्रेष्ठ तुर्क यूनानियों के लिए श्रेष्ठ हो सकता है? क्या कोई पोलैंडवासी यहूदी के लिए श्रेष्ठ हो सकता है? इन प्रश्नों का सही उत्तर मिलने में कोई संदेह नहीं हो सकता।

इस प्रश्न का उत्तर देते समय दो बातों की अनदेखी नहीं की जा सकती। पहली बात तो यह कि महान व्यक्ति नेकदिल भी हो यह आवश्यक नहीं। दूसरी बात यह कि वह व्यक्ति संवेदनहीन मशीन नहीं होता। महान व्यक्तियों पर भी यह बात लागू होती है। कुछ के प्रति उसकी सहानुभूति दूसरों के प्रति घृणा द्वेष होता है। उस पर जातीय सहानुभूति एवं वर्गीय द्वेषभाव करने का दोषारोपण किया जा सकता है। इन बातों पर ध्यान देने से प्रकट होता है कि शासक वर्ग से संबंधित श्रेष्ठ व्यक्ति मेहनतकश वर्गों के दृष्टिकोण से बहुत निकृष्ट हो सकता है।

सरकार का संकल्प : सरकार ने इस पर गंभीर अप्रसन्नता प्रकट की है कि जेल के महानिरीक्षक ने कर्तव्यपालन में बहुत ही लापरवाही बरती है। कोटा पूरा करने के लिए विभिन्न समुदायों से गिरफ्तारियों के लिए तुरंत कदम उठाए जाएं। यदि वांछित संख्या में पर्याप्त व्यक्ति न पकड़े जा सकें तो मौजूदा कैदियों में से उतनों को रिहा कर दिया जाए जितनों के बाद कोटे का स्तर समान हो जाए।

IX

(विधान परिषद की 1940 की कार्यवाही)

श्री चेनप्पा ने पूछा, क्या सरकार का ध्यान इस ओर दिलाया गया है कि पाली की ताजा एम. स. परीक्षाओं की सूची में मांग गरूदी के लिए कोटा पूरा नहीं किया गया है?

माननीय दागू शरॉफ (शिक्षा मंत्री) : विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार ने सूचित किया है कि मांग गरूदी जाति का कोई छात्र परीक्षा में नहीं बैठा।

श्री चेनप्पा : क्या सरकार उस समय तक परीक्षाओं पर रोक लगाएगी जब तक कि कोई परीक्षार्थी परीक्षा में बैठे और यदि विश्वविद्यालय सरकार के आदेशों की अवज्ञा करे तो विश्वविद्यालय का अनुदान रोक दिया जाए और विश्वविद्यालय अधिनियम में संशोधन कर दिया जाए?

माननीय सदस्य : सरकार इस सुझाव पर अनुकूल ढंग से विचार करेगी (तालियां)

X

(टाइम्स आफ इंण्डिया से सार संक्षेप 1942)

वधिक श्री ---- को कल शाम यह पूछने के लिए बुलाया गया कि जे.जे. अस्पताल में रामजी सोनू की शल्य चिकित्सा में मृत्यु कैसे हुई। डा. तनु पाण्डव (जाति नाई) ने अपने बयान में कहा कि उसने आपरेशन किया था। वह पेट के फोड़े में चीरा देना चाहता था परंतु उसका छुरा ह्रदय में घुस गया और रोगी मर गया। जब उससे पूछा गया कि क्या उसने कभी ऐसा आपरेशन किया है कि उसे केवल एक दिन पहले ही मुख्य शल्य चिकित्सक नियुक्त किया गया है, क्योंकि अब उसके समुदाय की बारी थी और उसने कभी शल्य चिकित्सा उपकरणों को नहीं छुआ था सिवाय हजामत बनाने के लिए उस्तरे के इस्तेमाल के। जूरी ने इस मृत्यु को गलत प्रयोग करार दिया।

मात्र कार्यक्षमता को ही कसौटी नहीं माना जा सकता। यदि इसे ही कसौटी मान लिया जाए, तो परिणाम यही होगा कि फ्रांस के मामलों को जर्मन देखेंगे और तुर्की के रूस और चीनियों के मामले जापानी देखेंगे। जो लोग अच्छी सरकार के बारें में खाली कार्यक्षमता को तूल देते हैं वे फ्रांसीसियों, तुर्को और चीनियों से इस बारे में बात करें और पूछें कि इस बारे में उनके क्या विचार हैं और उनके परिपालन के क्या परिणाम सामने आएंगे। एक भौंदू व्यक्ति भी अंदाजा लगा सकता है कि इसका उत्तर क्या होगा। मुझे विश्वास है कि इस सिद्धांत की खिचड़ी ऐसी पकेगी कि वह एकदम बकवास होगी। भारत में यह सिद्धांत कैसे लागू हो सकता है, जहां शासक जातियां और मेहनतकश जातियों का अंतर वैसा ही है, जैसा फ्रांसीसी और जर्मन, तुर्क और रूसियों और चीनियों और जापानियों के बीच है? वास्तविकता तो यह है कि भारत की स्वार्थलिप्त शासक जातियों को यह खयाल ही नहीं है कि खाली कार्यक्षमता का सिद्धांत कितना बेहूदा है और समझती हैं कि वह अपनी मर्जी का कानून बना सकती है, उन्हें इस बात की परवाह नहीं कि मेहनतकश जातियों का इस मामलें में क्या विचार है।

शासक जातियां यह जानने की परवाह नहीं करती कि उन्होंने क्या–क्या हथकंडे अपना कर अपना वर्चस्व स्थापित किया है। उन्हें अपने मन को टटोलने की जरूरत ही महसूस नहीं होती, कुछ तो इसलिए कि वे सोचते हैं कि उन्होंने यह प्रभुत्व योग्यता के आधार पर प्राप्त किया है, कुछ इसलिए कि वे सोचते हैं कि इससे कोई गरज नहीं कि उन्होंने सत्ता कैसे हथियाई; बस इतना ही काफी है कि वे मेहनतकश जातियों को अपने पांव तले दबा कर रखने की स्थिति में हैं। मान लीजिये कि शासक जातियां यह जानना जरूरी न समझें कि वे कैसे तीसमार खां बन बैठी तो उन्हें कैसे असलियत का पता चलेगा? यह जान कर आश्चर्य होगा कि शासक जातियों ने ये अधिकार इसी आरक्षण के बलबूते पर बटोरे हैं, जिसको आज वे सांप्रदायिकता के नाम पर उछाल कर विरोध कर रहे हैं। बहुतों के लिए इस कथन को पचा पाना मुश्किल होगा। जिन्हें इसमें कोई संदेह हो उन्हें और कुछ करने की जरूरत नहीं। बस वे मनुस्मृति के पन्ने पलट कर देख लें, जो हिंदुओं का बाइबिल है। उसमें उन्हें जो देखने को मिलेगा, उससे उनका दिल बैठ जाएगा जब वे पाएंगे कि इन मठाधीश जातियों के सरगना ब्राह्मणों ने राजसत्ता बौद्धिकता के बल पर अर्जित नहीं की है – बौद्धिकता किसी की बपौती नहीं है – बल्कि मात्र सांप्रदायिकता के नाम पर वे इस स्थिति में आए। मनुस्मृति के विधान के अनुसार पुरोहित के पद, सम्राट के कुलगुरू और प्रमुख सलाहकार न्यायकर्म और दंडाधीश के पद और सम्राट के मंत्रियों के पद ब्राह्मणों के लिए सुरक्षित थे। यहां तक कि सेना के सेनापति के पद के लिए उसकी संस्तुति की गई कि वही योग्य और सुपात्र है हालांकि उसे आरक्षित नहीं

किया गया। सभी महत्वपूर्ण पद ब्राह्मणों के लिए सुरक्षित थे। सारे मंत्री तो ब्राह्मण होते ही थे। इसकी यहीं इतिश्री नहीं थी। ब्राह्मण अपने वर्ग के लिए लाभ और सत्ता के पद आरक्षित करके ही संतुष्ट नहीं थे। वे जानते थे कि केवल आरक्षण ही पर्याप्त नहीं है। गैर–ब्राह्मण जातियों में ब्राह्मणों के समान योग्यता वाले लोगों द्वारा मुख्य पदों को प्राप्त किए जाने और ब्राह्मणों के आरक्षण को उखाड़ फैंक देने वाले लोगों के आंदोलन की संभावनाओं को असंभव बनाना भी ब्राह्मणों ने आवश्यक समझा। ब्राह्मणों ने समस्त शासकीय पदों को अपने लिए आरक्षित करने के साथ–साथ शिक्षा पर भी एकाधिकार जमाए रखने के लिए विधान बनाया। जैसा कि पहले भी संकेत दिया जा चुका है, ब्राह्मणों ने विधान बना कर हिंदू समाज के निम्नतर वर्ग के लिए पढाई–लिखाई अपराध घोषित कर दी जिसका उल्लंघन करने पर केवल कठोर ही नहीं अमानुषिक दंड, जैसे अपराधी की जीभ कटवा लेना और उसके कान में पिघलता सीसा डलवा देने की भी व्यवस्था कर दी। यह सच है कि वे आरक्षण अंग्रेजी राज में लागू नहीं हैं परन्तु यह स्वीकार करना होगा कि वैसे तो मनु के विधान में नियत आरक्षण समाप्त हो गए हैं, परन्तु कई शताब्दियों तक उसके जो लाभ उन्हें मिलते रहे हैं, उनसे वे अब तक फलफूल रहे हैं। जब मेहनतकश जातियां इन आरक्षणों की मांग करती हैं, तो वह कोई नई बात या अजुबा नहीं है। आरक्षण की मांग उन शासक जातियों और संप्रदायवादियों की ज्यादतियों से सुरक्षा की मांग है जो मेहनतकश जातियों पर हर क्षेत्र में प्रभुत्व जमाना चाहती हैं, इस मांग के साथ शासक जातियों पर कोई ऐसी घृणित शर्तें नहीं लगाई गई जैसी कि ब्राह्मणों ने अपनी अभिवृद्धि और अपने वर्चस्व की रक्षा के लिए शूद्रों पर लगाई थी, जैसे कि सत्ताहीन जातियों के लिए शिक्षा और संपत्ति प्राप्त करना अपराध था।

कार्यक्षमता के तर्क को जन–कल्याण की दृष्टि से भी देखना होगा। आयरलैंड की संसद के निचले सदन में कैंपबेल बेनरमेन ने कहा था कि अपनी सरकार किसी पराई सरकार से बेहतर होती है। भारत में यह बयान इतना लोकप्रिय हुआ कि यह एक नारे से भी आगे बढ़ गया। यह ब्रह्म वाक्य बन गया। देखनें में यह कथन बेहूदा है। कैंपबेल बैनरमैन अच्छी सरकार की स्वसरकार से तुलना नही कर रहे थे। वे सक्षम सरकार के और स्वसरकार के भेद को बता रहे थे। बल्कि दृढ़ संकल्प सरकार से तुलना कर रहे थे। उन्होंने अपने विपक्षी लार्ड सेलिसबरी के ही मुहावरे का इस्तेमाल किया। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि स्वसरकार अच्छी सरकार होनी चाहिए, वरना उसका ना होना भला। प्रश्न यह है कि अच्छी सरकार कैसी हो? कुछ लोगों की यह धारणा हो सकती है कि स्वसरकार प्रभुसत्तासपन्न सरकार हो सकती है और वह अच्छी सरकार होगी ही। यह एक सबसे बड़ी भ्रांति है, जो अधिकांश पराधीन देशों में

विद्यमान है। जिन्होंने ऐसी भ्रांति पाल रखी है, वे प्रो. डायसी को पढ़ें तो अच्छा होगा। उन्होंने इस विषय में कहा है :

"कोई भी प्रभुतासंपन्न शासक विशेष रूप से संसद द्वारा सत्ता का प्रयोग दो सीमाओं में बंधा होता है। एक बाह्य तथा दूसरी आंतरिक। ऐसे शासक की बाह्य सीमाओं के कारण यह संभावना होती है या निश्चित होता है कि उसकी प्रजा अथवा उसमें से बहुत सारे लोग उसके आदेशों की अवहेलना कर सकते हैं या प्रतिरोध कर सकते है।"

"यह बाह्य सीमाएं निरंकुश शासकों की भी होती हैं। 18वीं सदी के मध्य में चाहे रोमन सम्राट रहे हों अथवा फ्रांसीसी सम्राट कानून की शक्ल में बहुत सख्त शासक थे। (जैसा कि आजकल रूस के जार सम्राट) प्रभुसत्ता संपन्न शासकों में कानून और कानून बनाने के सारे अधिकार निहित थे। उसका बनाया हुआ प्रत्येक कानून आवश्यक रूप से मानना पड़ता था और उसके राज्य में ऐसी कोई शक्ति नहीं होती थी, जो ऐसे कानूनों को रद्द कर सके, परंतु यह समझना भूल होगी कि वे सदा स्वेच्छा से कानून बनाते थे, चाहे वे कितने ही जितना स्वेच्छाचारी शासक रहे हों।

"शासक सम्राट चाहे जितना निरंकुश हो, अपनी प्रजा तथा प्रजा के कुछ भाग द्वारा उसके आदेश इसी बात पर निर्भर थे कि उन्हें मानने के लिए प्रजा कहां तक तैयार है और वह भी सीमाओं में होती थी। यह बात इतिहास की बदनाम घटनाओं में भी मौजूद है। प्राचीनकाल के सीजर्स में से किसी ने भी रोमन साम्राज्य की पूजा करने के मूल संस्थानों को नष्ट नहीं किया। सुलतान इस्लाम को नहीं समाप्त कर सका। लुई चौदहवें ने, जो सर्वशक्तिसंपन्न था, नान्ते के आदेश का खंडन किया, परंतु उसे जान पड़ा कि प्रोटेस्टेंट की महत्ता को समाप्त करना असंभव है और इसी कारण से जेम्स द्वितीय, रोमन कैथोलिक धर्म की स्थापना करने से रूक गया। निरंकुश शासक की शक्ति अथवा संसद की प्रभुता भी जनता द्वारा नियंत्रित होती है। जनता के प्रतिरोध की संभावना से वह सीमित होती है। संसद उपनिवेशों पर कर लगा सकती है, संसद कानून में परिवर्तन अथवा संशोधन किए बिना शासक के उत्तराधिकार को समाप्त कर सकती है, परंतु जैसा कि सभी लोग जानते हैं, आजकल की दुनिया में ब्रिटिश संसद इनमें से कुछ नहीं करेगी। इन सभी विषयों पर जनता के प्रतिरोध की संभावना को देखते हुए कानून बनाना यद्यपि वैध था, तब भी संसद की शक्ति से परे है।

×× ×× ××

"सर्वोच्च शक्ति के प्रयोग की भी आन्तरिक सीमा होती है। यहां तक कि निरंकुश शासक भी अपने चरित्र और गुणों के अनुसार अपनी शक्ति का प्रयोग करता है, परंतु वह भी उन परिस्थितियों से सीमित होता है, जिनसे वह घिरा

हुआ है। सुल्तान चाहते हुए भी मुस्लिम जगत के धर्म इस्लाम को नहीं बदल सकता था। परंतु यदि सुल्तान ऐसा करता भी तो उसके लिए आंतरिक सीमाओं के साथ–साथ बाह्य सीमाएं भी सुदृढ़ थी। कभी–कभी लोग यह निरर्थक प्रश्न कर बैठते है कि पोप कोई सुधार लागू क्यों नहीं करता? इसका उत्तर यही है कि पोप क्रांतिकारी मनुष्य नहीं हो सकता और वह जो पोप हो जाता है, उसकी इच्छा क्रांतिकारी बनने की नहीं होती ....।"

मैं पहले ही कह चुका हूं कि मेहनतकश जातियां इसी से संतुष्ट नहीं हो सकती कि उनका देश स्वतंत्र हो गया है और उसकी प्रभुसत्ता है। उनके लिए आवश्यक है कि कुछ कदम और बढ़ाए जाएं और यह देखा जाए कि देश का संचालन कौन करने जा रहा है। डायसी ने जो कुछ कहा उसकी सच्चाई से कोई इंकार नहीं कर सकता। शासक वर्ग क्या कर सकता है उसमें इतना और जोड़ लिया जाए कि अच्छी सरकार के लिए योग्यता और क्षमता ही काफी नहीं है, आवश्यकता ऐसे शासक वर्ग की है, जिसमें कल्याण भावना या डायसी के शब्दों में आंतरिक मर्यादाओं से जो स्वार्थी वर्ग लगाते हैं मुक्ति, कार्यक्षमता सिद्धांत में वर्ग विशेष का स्वार्थ भी समाया होता है तो उससे अच्छी सरकार स्थापित होने की बजाए वह मेहनतकश वर्ग के दमन का साधन बन जाता है।

राज्य के माध्यमों का चयन करते समय, माध्यमों में वर्गभेद के विचारों की अनदेखी नहीं की जा सकती। अच्छी सरकार के लिए यह नितान्तावश्यक है। दुर्भाग्य से इसे महत्व नहीं दिया गया, यहां तक कि उनके द्वारा भी जो खुद को लोकतंत्र का हिमायती कहते हैं। सबसे पहले इसका महत्व कार्ल मार्क्स ने समझा और उन्होंने पेरिस कम्यून के प्रशासन में इसे परखा। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आज सोवियत रूस की सरकार की बुनियाद वही है। भारत में मेहनतकश वर्ग की आरक्षण की मांग उसी सोच पर आधारित है, जिसका संकेत डायसी ने दिया, मार्क्स ने जिसकी वकालत की और रूस ने जिसे अपनाया। मेहनतकश जातियों के संरक्षण करने के बारे में केवल उस वर्ग से संबंधित लोगों पर ही भरोसा रखा जा सकता है। यह सोच इतनी महत्वपूर्ण है कि कार्यक्षमता का सिद्धांत उस पर हावी नहीं हो सकता। यदि भारत की शासक जातियां कार्यक्षमता का राग अलापती है, तो उसका कारण उनका यह इरादा काम करता है कि सरकार के तंत्र पर एकाधिकार जमा लिया जाए।

IX

पिछली बहस इतनी लंबी खिंच गई है कि विदेशी पाठक उन मुद्दों को समझ ही न पाया होगा जिनको स्पष्ट करने का हमारा इरादा था। इसलिए उनको समझने के लिए उन्हें एक कड़ी में पिरोना आवश्यक होगा।

भारत में लोकतंत्र की स्थापना के इच्छुक लोगों को जिन मुख्य समस्याओं का सामना करना पड़ सकता है, वे हैं–"(1) भारत में शासक जातियों की स्थिति, (2) मेहनतकश जातियों के प्रति शासक जातियों का लक्ष्य और उद्देश्य, (3) मेहनतकश जातियों द्वारा संवैधानिक संरक्षण की मांग का औचित्य, और (4) शासक जातियों के कांग्रेस से संबंध।

पहले मुद्दे के बारे में तर्क यह है कि भारत में शासक जातियों की स्थिति संसार के अन्य भागों से भिन्न है। इसकी भिन्नताओं को समझ पाना सरल नहीं है, न ही लिखित अभिव्यक्ति उद्देश्य को पूरा कर सकती है। शायद व्याकरण के संयोजक और वियोजक चिन्हों का उदाहरण स्थिति स्पष्ट कर सकता है। संयोजक और वियोजक चिन्हों को समझने में कोई भूल नहीं कर सकता। वियोजक विभाजन करता है, परंतु कही भी संयोजन नहीं करता। संयोजक में दोनों गुण हैं। यह वाक्य को विभाजित करता है और संयोजित भी। भारत में शासक जातियों और मेहनतकश जातियों के बीच में वियोजक चिन्ह है, जो दोनों को विभाजित करता है। अन्य देशों में संयोजक चिन्ह हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अंतर बहुत निर्णायक है। अन्य देशों में शासक वर्ग में बराबर घट–बढ़ होती रहती है। कोई वर्ग जब उच्च स्थान से हट जाता है, तो नीचे से दूसरा वर्ग इसकी जगह ले लेता है, जो अपना स्तर ऊंचा उठा लेता है। भारत में शासक जातियों के चारों ओर लक्षमण रेखा खिंची है जिससे उन्हें जन्म से मृत्यु तक वहीं रहना है। जिसका जन्म इस वर्ग में नहीं हुआ है, वह इस परिधि में घुस ही नहीं सकता। अन्य देशों में ऐसी परिधि नही है कि शासक वर्ग और दूसरों के बीच सामाजिक अंतराल हो। उन देशों की मानसिकता में समायोजन भाव है, जिसके कारण शासक वर्ग शासित वर्ग के प्रति इतना हठधर्मी नहीं है। दूसरे शब्दों में अन्य देशों का शासक वर्ग समाज विरोधी नहीं है। वह मात्र असामाजिक है। भारत में शासक वर्ग की एक परिधि है। उसकी परंपराएं, समाज–दर्शन और दृष्टिकोण मेंहनतकश जातियों के प्रति कठोर है। वह परिधि अटूट है। उसमें प्रभुता और दासता का भेद गहराई से पैठा हुआ है, जिनके बीच संपन्नता और विपन्नता का स्थाई और स्पष्ट अंतर है। दूसरे शब्दों में, भारत की शासक जातियां केवल असामाजिक ही नहीं हैं, बल्कि यह निश्चित रूप से समाज–विरोधी हैं।

मेहनतकश जातियों की आरक्षण की मांग के पीछे आशय यह है कि शासक जातियों के अधिकारों पर सीमा लगाई जाए, जिसके रहते वे सरकारी तंत्र पर नियंत्रण कर लेते हैं। शासक जातियां आरक्षण को बदनाम कर रही हैं, ताकि उन लोगों की आवाज को ही दबा दें, जो उस पर जोर दे रहे हैं। वास्तविकता यह है कि आरक्षण वही चीज है, जिसे अमरीकी निगरानी और नियंत्रण कहते है, जो प्रत्येक संविधान में रहना आवश्यक है जिससे लोकतंत्र के शत्रु उस पर

काबिज होकर न बैठ जाएं। भारत की मेहनतकश जातियों द्वारा की जा रही मांग और अमरीका के निगरानी और नियंत्रण लागू करने में दो मापदंड हो सकते हैं। पहला यह है कि राजनैतिक संविधान और देश की सामाजिक संस्थाओं के बीच तालमेल हो। तभी वास्तविक लोकतंत्र बच सकता है। यदि दो देशों के बीच सामाजिक प्रथाएं भिन्न हैं तो वहां निगरानी और नियन्त्रण का मापदंड भी भिन्न रखना होगा। उदाहरण के लिए जो देश जातपात की व्यवस्था से ग्रस्त हैं, वहां उन देशों से भिन्न निगरानी और नियंत्रण की आवश्यकता है जहां सामाजिक लोकतंत्र की भावना मौजूद है। दूसरी बात यह है कि मेहनतकश जातियों को सुदृढ़ आधार प्रदान किया जाए, ताकि वे अधिकारसंपन्न शासक वर्ग के दमन से बची रहें। कुछ देशों में मेहनतकश वर्गों के लिए वयस्क मताधिकार ही काफी हैं, जिससे वे प्रशासक वर्ग से स्वयं सुरक्षित रह सकते हैं। भारत में अन्य देशों के विपरीत शासक जातियां सर्वशक्तिमान और इतनी सर्वव्यापी हैं कि वयस्क मताधिकार के साथ–साथ अन्य उपाय भी आवश्यक हैं, ताकि वे शासक जातियों के शोषण से बची रह सकें। इसके परिप्रेक्ष्य में मेहनतकश जातियों की आरक्षण की मांग मूलतः अमरीकी संविधान की निगरानी और नियंत्रण व्यवस्था से भिन्न नहीं है। इसलिए किसी विदेशी को उनके विरूद्ध कोई धारणा बनाने से पूर्व इस पर विचार करना चाहिए।

यथार्थ में उपरोक्त संदर्भ में जो बातें कही गई हैं, उनका उद्देश्य कांग्रेस और शासक जातियों के संबंधों को दर्शाना है। उन पर पूरा प्रकाश डाल दिया गया है। इन तथ्यों को ध्यान में रखने पर विदेशी को स्पष्ट हो जाएगा कि कांग्रेस और शासक वर्ग का कितना घनिष्ठ संबंध है। उन तथ्यों से स्पष्ट हो जाएगा कि भारत में शासक वर्ग कांग्रेस की टोली में क्यों घुस गया है, और कांग्रेस को सभी लोगों के समर्थन का क्यों प्रचार करता है। संक्षेप में, शासक वर्ग को भली भांति मालूम है कि सुविधाहीन लोगों का आंदोलन वर्ग–सिद्धांत, वर्गीय हितों और जातीय संघर्ष पर आधारित है। यह एक दिन सुविधासंपन्न वर्ग की कब्र खोद देगा। वे जानते हैं कि सेवक वर्गों की मांग को पटरी से उतारने के लिए राष्ट्रीयता और एकजुटता को खतरे का हौवा खड़ा कर उन्हें बुद्धू बना दिया जाए। वे यह भी समझते है कि कांग्रेस ही ऐसा मंच है, जिसमें शासक वर्ग का हित सुरक्षित है, क्योंकि यदि कोई दल ऐसा है जिसके मंच से अमीर, गरीब, ब्राह्मण, गैर–ब्राह्मण, जमींदार और आसामी, महाजन और कर्जदार के बीच के विवाद पर तुषाराघात करके संघर्ष की ओर से ध्यान बंटाया जा सकता है, तो वह एकमात्र कांग्रेस है। कांग्रेस ही वह मंच है, जहां से देशभक्ति और राष्ट्रीय एकता का झंडा फहरा कर उनका हितसाधन किया जा सकता है।

यदि विदेशी इन विचारों को ध्यान में रखेगा, तो उसे समझ में आ जाएगा

कि भारत की मेहनतकश जातियां कांग्रेस छाप स्वराज्य से क्यों प्रभावित नहीं हैं। कांग्रेस छाप स्वराज्य उनका क्या उपकार कर सकता है? वे जानते हैं कि कांग्रेस छाप स्वराज्य में उनका भविष्य अंधकारमय बना रहेगा। कांग्रेस छाप स्वराज्य या तो गांधीवाद की परिणति होगी या यह वैसा ही होगा, जैसा शासक जातियां चाहती हैं। यदि यह पहले वाला होगा, तो इसका अर्थ होगा चरखा कातना, ग्रामोद्योग, जातपांत का बोलबाला, ब्रह्मचर्य, गोभक्ति और ऐसी ही चीजें। यदि इसे शासक जातियों की कृपा पर छोड़ दिया जाएगा, तो उसका प्रमुख कार्य होगा यह देखना कि मेहनतकश जातियों को कैसे दबाया जाए और उन सुविधाओं को कैसे बंद किया जाए, जो शिक्षा और सरकारी सेवाओं के बारे में दी गई हैं।

कुछ लोगों को आशा है कि स्वराज्य के अन्तर्गत काश्तकारी कानूनों, फैक्ट्री अधिनियमों, अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा, नशाबंदी और सड़क तथा नहरों का निर्माण, मुद्रा सुधार, माप–तौल विनियमन, दवाखानों और मेहनतकश जातियों के लिए सुविधाओं में सुधार होगा। मुझे इस बात पर पक्का भरोसा नहीं है कि ये आशाएं की भी जा सकती हैं। अधिकांश लोग भूल जाते हैं कि कांग्रेस ऐसे कार्यक्रमों का प्रचार क्यों करती है। वह यह बताना चाहती है कि कांग्रेस ब्रिटिश नौकरशाही से बेहतर है। परंतु एक बार यदि नौकरशाही का सफाया हो गया, तो क्या लोगों के कल्याण के वैसे ही प्रोत्साहन मौजूद रहेंगे? यही प्रश्न है। पहले तो मुझे इस बाबत गंभीर संदेह है कि यह किस प्रकार संभव होगा। फिर दूसरी कोई बड़ी चीज भी नहीं है। आज कोई भी सरकार समाज को आधुनिक रूप दिए जाने के कार्यों की उपेक्षा नहीं कर सकती। इसी के साथ साथ क्या स्वराज्य का अंतिम लक्ष्य सबका कल्याण और सामाजिक उत्थान होगा? मैं मेहनतकश जातियों को बखूबी जानता हूं, इसमें मेहनतकश जातियों का कोई दोष नहीं है। वे निश्चित रूप से उस उपदेश का पालन करने को तैयार नहीं हैं कि "देख पराई चुपड़ी मत ललचाए जी, रूखा सूखा खाय के ठंडा पानी पी।" सदियों से भूख और गरीबी उनकी नियति रही है। परंतु उसके सामने यह कुछ नहीं है, जो अपमान और तिरस्कार वे इस विषैली सामाजिक व्यवस्था के कारण झेलते हैं। उन्हें रोटी नहीं सम्मान चाहिए। यह तभी हो सकता है जब शासक जातियां लुप्त हो जाएं और उनकी भाग्यविधाता न रहें। मेहनतकश जातियों के सामने सवाल यह नहीं है कि यह सुधार किया जाए या वह। प्रश्न यह है कि क्या जब भारत की शासक जातियां सरकारी तंत्र पर हावी हो जाएंगी तो वे ऐसी सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन के लिए तैयार हो जाएंगी, जहां शासक जातियां सामाजिक उत्थान के कार्य से अलग कर दी जाएंगी। इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि भारत के भावी संविधान में मेहनतकश जातियों के संरक्षण और सुरक्षा होगी या नहीं। यदि संरक्षण रहे, तो मेहनतकश के लिए यह संभव हो सकेगा कि

कालांतर में वे शासक जातियों को उनकी औकात बता दें। यदि संविधान में संरक्षण नहीं रखे गए तो शासक जातियों का मेहनतकश जातियों पर प्रभुत्व जारी रहेगा। इस बिंदु को देखते हुए विदेशियों को यह ध्यान रखना चाहिए कि कांग्रेस का बहु प्रचारित प्रतिनिधित्व स्वरूप विशुद्ध अप्रासंगिक है। कांग्रेस एक प्रतिनिधि संस्था हो सकती है और स्वतंत्रता संग्राम कहे जाने वाले कार्य में लगी हो सकती हैं परंतु इन बातों का अर्थ यह नहीं कि वह इस मुद्दे पर फैसला कर ले। यदि कोई लोकतंत्र प्रेमी कांग्रेस का मित्र बनने से पूर्व यह मांग करे कि संविधान की रूपरेखा प्रस्तुत की जाए और इस बात से संतुष्ट हो जाए कि संविधान में ऐसी स्पष्ट और सकारात्मक व्यवस्था हो कि मेहनतकश जातियों की सुरक्षा, संरक्षण, स्वतंत्रता और खुशहाली का मार्ग प्रशस्त हो।

X

जो विदेशी भारत के मामलों में रूचि लेते हैं, उन्हें दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता हैं। पहला वर्ग उन लोगों का है, जो यात्री हैं या पर्यटक हैं, जो बहुत कम समय के लिए भारत आते हैं, जिन्हें भारतीय परिवेश और यहां की राजनीति और समस्याओं का कोई ज्ञान नहीं होता या वे यह जानते हैं कि भारत की राजनीतिक समस्याएं कितनी जटिल है और इन समस्याओं को सुलझाने में विभिन्न राजनैतिक दलों की क्या भूमिका है? दूसरे वर्ग में वे लोग आते है, जो लोकतांत्रिक जनमत के नेता हैं, जैसे अमरीका के लुई फिशर, किंग्सले मार्टिन, ब्रेल्सफोर्ड और लास्की जिनके ज्ञान को चुनौती नहीं दी जा सकती। मुझे उस समय कोई अफसोस न होता, यदि पूर्वोक्त विचार–विमर्श उन विदेशी पर्यटकों अथवा यात्रियों की सोच को ठीक करने के लिए होता जो बिना सोचे–समझे कांग्रेस के पक्ष में हो गये हैं, परंतु दुर्भाग्य से वैसा ही पक्षपात उन विदेशियों में भी मिलता है जो दूसरी श्रेणी में आते हैं।

कुछ ऐसे भी विदेशी हैं, जो भारत भ्रमण के लिए आते हैं। भारतीय राजनीति की बारीकियों को नहीं समझ सकते। यह समझ में नहीं आता ये विदेशी जो केवल उस आधार पर कांग्रेस का समर्थन केवल उसी रास्ते पर चल कर क्यों करते है, जैसा कि मि. पिकविक ने सैमवेलरा से कहा था कि ज्यादा से ज्यादा भीड़ इकट्ठी करके गला फाड़ो, परंतु सबसे बड़ी कष्टदायक बात यह है कि ब्रिटिश लेबर पार्टी के नेताओं का रवैया जो यूरोप और अमरीका के क्रांतिकारी एवं वामपंथी वर्ग के झंडाबरदार हैं जिनका प्रतिनिधित्व लास्की, किंग्सले, मार्टिन और ब्रेल्सफोर्ड जैसे लोग करते हैं, जैसे अमरीका के "नेशन" और इग्लैंड के "न्यू स्टेट्समेन" के संपादक करते हैं, जो पददलित और पिछड़े लोगों के हिमायती माने जाते हैं। ये लोग कैसे कांग्रेस का समर्थन करते है? क्या वे नहीं जानते

कि भारत में कांग्रेस और शासक वर्ग एक ही थैली के चट्टे बट्टे हैं? क्या वे नहीं जानते कि भारत में शासक जातियां ब्राह्मण–बनिया धुरी ही है? ब्राह्मण और बनियों के अतिरिक्त जो बहुसंख्यक जनता कांग्रेस का झंडा थामती है उसका कांग्रेस की नीति–निर्धारण में कोई योगदान नहीं है। क्या महान व्यक्तित्व वाले उपरोक्त विदेशी यह नहीं समझते कि जिन कारणों से सुल्तान इस्लाम को और पोप कैथोलिक धर्म को नहीं मिटा सके, वैसे ही शासक वर्ग इस मकड़जाल को नहीं तोड़ेगा और वह जब तक ब्राह्मण की श्रेष्ठता पर चोट नहीं करेगा तब तक वह ब्राह्मण और सहयोगी जातियों की श्रेष्ठता का पाठ पढ़ता ही रहेगा जिससे शूद्रों और अछूतों का दमन और तिरस्कार होता है और भारत की आजादी के बाद भी सरकार की वही पवित्र नीति रहती है। क्या वे नहीं जानते कि भारत का शासक वर्ग देश का लोक–मानस नही है? वह उनसे न केवल कटा हुआ है, बल्कि खुद भी बच कर चलता है। उसे डर है कि कहीं उसे छूत न लग जाए, क्योंकि ब्राह्मणों ने उल्लू की लकड़ी घुमा रखी है। उसकी सोच और हित उनसे टकराते हैं, जो उनके समाज से बहिष्कृत हैं और दलित दमित के प्रति उसकी कोई सहानुभूति नहीं है। उसके मन में दलितों की आकांक्षाओं और दुखदर्द को समझने की संवेदना नहीं हैं, उन्हें शिक्षा और उच्च सरकारी रोजगार दिलाने का उसे अहसास नहीं है। वह उनके सम्मान और स्वाभिमान जगाने वाले आंदोलनों का विरोध करता है। क्या ये विदेशी नहीं जानते कि भारत के स्वराज्य में 6 करोड़ अछूतों का भाग्य भी अन्तर्ग्रस्त है?

यह कहना असंभव सा प्रतीत होता है कि ब्रिटिश लेबर पार्टी के नेता किंग्सले मार्टिन, ब्रेल्सफोर्ड और लास्की जिनके लेख स्वतंत्रता और प्रजातंत्र के विषय में सभी दबे पिछड़े लोगों में प्रेरणा जगाने वाले हैं, वे भारत की इन बातों को नहीं जानते। तब भी वे भारत के संदर्भ में जब कुछ कहते हैं, तो कांग्रेस का ही समर्थन करते हैं। वे शायद ही कभी अछूतों की समस्या पर मुंह खोलते हों, जिस पर सभी प्रगतिशील और प्रजातंत्रवादियों का ध्यान जाना चाहिए था। इन विचारों द्वारा केवल कांग्रेस कार्यकलापों पर ध्यान जाना, भारत के राष्ट्रीय जीवन के अन्य तत्वों की उपेक्षा करना, इस बात को स्पष्ट करता है कि उन्हें गुमराह किया गया है। यदि कांग्रेस राजनैतिक प्रजातंत्र के लिए लड़ाई लड़ती होती, तो कांग्रेस को समर्थन देना ही भली भांति तब समझा जा सकता था, परंतु क्या ऐसा है? सब जानते हैं कि कांग्रेस केवल राष्ट्रीय आजादी की लड़ाई लड़ रही है, राजनैतिक प्रजातंत्र में उसकी कोई दिलचस्पी नहीं है। वह पार्टी जो भारत में राजनैतिक प्रजातन्त्र की लड़ाई लड़ रही है, वह केवल अछूतों की पार्टी है, जिसे आशंका है कि कांग्रेस की आजादी की यह लड़ाई यदि कामयाब हो जाती है तो इसका अर्थ होगा शक्तिशाली वर्ग को ही स्वतंत्रता मिलेगी और वह अधिक शक्ति के

साथ कमजोरों और दलितों को, तब तक दबाएगा, जब तक कि उनकी सुरक्षा के लिए संवैधानिक संरक्षण न दिया जाएगा। यह वही दलित वर्ग है, जिसे उन प्रगतिशील नेताओं की सहायता की आवश्यकता है। परंतु उनकी सहानुभूति एवं समर्थन की वर्षों से प्रतीक्षा अछूतों के लिए व्यर्थ साबित हुई। यूरोप और अमरीका के उन प्रगतिशील एवं वामपंथी नेताओं ने यह जानने की परवाह नहीं की कि कांग्रेस के पीछे कौन शक्ति काम कर रही है।

अनभिज्ञ और लापरवाह व्यक्ति भले ही कांग्रेस की भावना को न जानता हो, परंतु वास्तविकता यह है कि वे वामपंथी और प्रगतिशील नेता आंख मूंद कर उस कांग्रेस का समर्थन करते हैं, जो पूंजीपतियों, जमींदारों, सूदखोरों तथा प्रतिक्रियावादियों द्वारा चलाई जा रही है– केवल इसलिए कि कांग्रेस अपने कार्यकलापों द्वारा स्वतंत्रता का गौरवान्वित नाम लेकर चिल्ला–चिल्ला कर प्रचार करती हैं। स्वतंत्रता की सभी लड़ाइयां समान नैतिक स्तर की नहीं हुआ करती, क्योंकि इन लड़ाइयों के पीछे स्वतंत्रता की लड़ाई का सदैव एक सा ध्येय नहीं हुआ करता। इंगलैंड के इतिहास से कुछ उदाहरण लीजिए। जॉन के विरूद्ध बेरन का विद्रोह आजादी की लड़ाई कहा जा सकता है, परंतु क्या कोई लोकतंत्रवादी आज के युग में उसका समर्थन कर सकता है? क्या केवल इसलिए इंगलैंड के किसान विद्रोह का समर्थन किया जा सकता है कि उसे स्वतंत्रता का नाम दे दिया गया था? ऐसा करना स्वतंत्रता के नाम पर उठाई गई झूठी पुकार पर आगे बढ़ने के समान होगा। ऐसा अपरिवक्व व्यवहार क्षम्य होता, यदि वह किसी मंद बुद्धि व्यक्ति द्वारा किया गया होता जिसे यह निर्णय करना न आता हो कि जीने की स्वतंत्रता और दमन करने की स्वतंत्रता में क्या भेद है। परंतु सर्वश्री लास्की, किंग्सले मार्टिन, बेल्सफोर्ड, लुईफिशर जैसे लब्धप्रतिष्ठित प्रजातंत्र संरक्षकों के प्रगतिशील वामपंथी अनुयाइयों को इसके लिए क्षमा नहीं किया जा सकता।

जब उनसे यह प्रश्न पूछा जाता है कि वे वास्तविक प्रजातंत्र के लिए लड़ने वाली पार्टियों का समर्थन क्यों नहीं करते, तो वे पलट कर प्रश्न करते हैं, कि क्या भारत में अन्य ऐसी पार्टियां हैं, जो वास्तविक प्रजातंत्र के लिए लड़ रही है? यदि ऐसी पार्टियां है तो अखबार वाले उनके कार्यकलाप क्यों नहीं प्रकाशित करते? जब कहा जाता है कि प्रेस कांग्रेसी है, तब पुनः प्रश्न उठता है कि विदेशी अंग्रेजी अखबार वाले क्यों नहीं प्रकाशित करते? मैंने पहले ही स्पष्ट कर दिया है कि विदेशी अखबार वालों से कोई आशा नहीं की जा सकती। भारत में जो विदेशी समाचार एजेंसियां हैं, वे भारतीय समाचार एजेंसियों से अधिक अच्छी नहीं कही जा सकतीं। वास्तव में वे अधिक अच्छी एजेंसियां हो नहीं सकतीं। भारत में जो विदेशी पत्रकार हैं वे अधिकतर भारतीय हैं और विदेशी बहुत कम। विदेशी पत्रकारों के रूप में ऐसे भारतीयों का चुनाव किया जाता है, जो अधिकतर कांग्रेस

के पिट्ठू होते है। ये विदेशी पत्रकार जो विदेशी ही होते है, दो प्रकार के होते हैं। यदि अमरीकी हैं तो अंग्रेजों के बिल्कुल खिलाफ हैं तथा कांग्रेस के पक्ष में हैं। भारत में कोई राजनैतिक पार्टी यदि पागलों की तरह अंग्रेजों का विरोध नहीं करती, तो उसके प्रति उनको कोई दिलचस्पी नहीं होती। वे लोग, जो कांग्रेस में नहीं हैं, गवाह हैं कि वर्ष 1941-42 में भारत आए अमरीकी पत्रकारों को समझाना कितना कठिन था कि कांग्रेस ही अकेली पार्टी नहीं हैं, परन्तु उन्होंने दूसरी पार्टियों को घास नहीं डाली। बहुत बाद में अहसास हुआ, तब उन्होंने या तो कांग्रेस को गलत सिद्धांतों वाली संस्था कह कर उसकी निंदा की अथवा भारतीय राजनीति में दिलचस्पी लेना ही बंद कर दिया। उन्होंने भारत की अन्य राजनैतिक पार्टियों में कभी दिलचस्पी नहीं दिखाई और न कभी उनके विचारों को समझने की चिंता की और अंग्रेज संवाददाताओं का भी यही हाल है। वे भी केवल इस प्रकार की राजनीति में रूचि लेते हैं, जो घोर ब्रिटेन विरोधी है। वे उन पार्टियों को नहीं पूछते, जो सुरक्षित लोकतंत्र की हामी हैं। परिणाम यह है कि विदेशी पत्रकार भारतीय राजनीति के संबंध में उसी प्रकार समाचार प्रकाशित करते हैं, जिस प्रकार के भारतीय अखबार करते हैं।

पत्रकार हों या न हों, क्या उन प्रगतिशील विचारकों का यह कर्तव्य नहीं हो जाता कि संसार के किसी भी भाग में जहां कहीं सही प्रजातंत्र के लिए लड़ाई लड़ी जा रही हो, तो अपने विचारों के अनुकूल तत्वों को प्रोत्साहित करें। उनसे संपर्क कायम रखें और देखें कि सब जगह प्रजातंत्र फैले। दुर्भाग्य की बात है कि अमरीकी और इंगलैंड के प्रगतिशील विचारक उस वर्ग को भूल गए हैं, जिसकी सहायता करना उनका कर्तव्य है, इसके बजाए वे भारतीय अनुदारवादियों को प्रोत्साहन दे रहे हैं। जो लोग स्वतंत्रता के नारे का दुरूपयोग करते हैं, वे ऐसा करके अपनी करनी पर पर्दा डालते हैं और संसार को गुमराह करते हैं।

कांग्रेस द्वारा फैलाया गया यह कोहरा छंट जाएगा और विदेशी अनुभव करने लगेंगे कि भारत में प्रजातंत्र और स्वायत्त शासन, तब तक वास्तव में स्थापित नहीं हो सकता, जब तक कि स्वतंत्रता का लाभ न मिले। परंतु यदि वे कांग्रेस की वास्तविकताओं तथा उसके इरादों की बिना परीक्षा लिए खोखले नारों के आधार पर आंख मूंद कर कांग्रेस का समर्थन करते रहे, तो मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि वे भारत के मित्र होना तो दूर रहा भारतीय जनता की स्वतंत्रता के लिए वे निश्चित रूप से खतरा है। यह अफसोस की बात है कि वे उस उत्पीड़क को पहचानने की कोशिश नहीं करते, जो स्वतंत्रता का तर्क इसलिए लेता है कि वह अपने उन अधिकारों को पुनः प्राप्त करना चाहता है, जिससे वह उन दलित वर्गों को और दबा सके, जो उसके दमन से छुटकारा पाना चाहते हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति की शीघ्रता में उन्हें यह समझने का अवसर नहीं

कि कांग्रेस का पक्ष लेकर वे जो कुछ करना चाहते हैं, उससे भारत प्रजातंत्र के लिए सुरक्षित न रह सकेगा बल्कि तानाशाह को तानाशाही करने की पूरी छूट मिल जाएगी। क्या उनसे यह कहना आवश्यक है कि कांग्रेस का समर्थन करना तानाशाहों को दूसरों पर शिंकजा कसने की आजादी देना है? शोषित और पीड़ित वर्गों के समर्थकों के रूप में अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए उन्हें कांग्रेस के प्रति अपने दृष्टिकोण पर पुनर्विचार करना चाहिए।

अनुक्रमणिका